शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

दिसम्बर : १९६५ ☆ वर्ष २१वाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ८

जिज्ञासु को ज्ञानी की सीख

★

मैं धर्म को प्राप्त नहीं हुआ, मैं धर्म को कैसे प्राप्त करूँगा ?—इत्यादि खेद न करके वीतराग पुरुषों का धर्म जो—शरीरादि संबंधी हर्ष-विषाद वृत्ति को दूर करके, आत्मा असंग शुद्ध चैतन्यस्वरूप है—ऐसी वृत्ति का निश्चय एवं आश्रय ग्रहण करके उसी वृत्ति का बल रखना चाहिये; और जहाँ मंदवृत्ति हो, वहाँ वीतराग पुरुषों की दशा का स्मरण करना चाहिये; उस अद्‌भुत चरित्र पर दृष्टि प्रेरित करके वृत्ति को अप्रमत्त करना चाहिये। यह सुगम, सर्वोत्कृष्ट, उपकारक तथा कल्याण स्वरूप है।

—श्रीमद् राजचन्द्र : (८३४)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२४८]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विषय सूची

विषय

१. वैराग्य वाणी

२. करणानुयोग का एक सूक्ष्म कथन

३. णमो जिणाणं जिदभवाणं

४. सम्यक्त्व

५. मोक्षमार्ग

६. चार भाई

७. पोन्नूर का अभिनंदन पत्र

८. सम्यक्त्व के उपाय सूचक प्रश्नोत्तर

९. विविध संग्रह

१०. धर्म का प्रारम्भ और उसकी आवश्यकता

११. समाचार संग्रह

भूल सुधार

पाठक गण गतांक नं० ७ में पृष्ठ ४१६ पंक्ति २४ में 'ऐसा जीवन बने' के स्थान पर 'ऐसा जिनवर ने' इस प्रकार सुधार कर पढ़ें।

—प्रकाशक

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

दिसम्बर : १९६५ ☆ वर्ष २१वाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ८

वैराग्य-वाणी

यहाँ पूज्य स्वामीजी के वैराग्य प्रेरक वचनों से जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी कुछ संकलन दिया है। किसी भी प्रसंग पर शांतरस का पान कराके, आत्मा को शक्ति देनेवाली यह वाणी सबको आनन्द देगी।

धर्मात्मा-संतों का दर्शन किसी भी परिस्थिति में मुमुक्षु जीव को उत्साहित करता है.. धर्मात्मा को देखते ही उसके शारीरिक दु:ख और जीवन दु:ख सब एकबार तो भूल जाते हैं। बड़े-बड़े डॉक्टरों की दवा जिस रोग को शमन नहीं कर सकती, वह रोग धर्मात्मा के एक ही वचन से विस्मृत हो जाता है।

[आज हमें महान भाग्य से अडिग प्रकाशस्तम्भ समान संत-धर्मात्मा के दर्शनों-वचनों का सुयोग प्राप्त हुआ है... उनकी उत्साह प्रेरक वैराग्यवाणी सर्व जीवों के लिये खूब उपकारी है।]

रोग हो, दु:ख हो, वह शरीर की अवस्था है, उसका लक्ष छोड़कर आत्मा के ज्ञान-आनंद के विचारों में डूब जाना चाहिये। नरक में तो तेतीस-तेतीस सागरोपम तक घोर वेदना जीव ने सहन की है। शरीर का स्वभाव बदल नहीं सकता, इसलिये हमें समता रखना चाहिये। 'मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ'—इसप्रकार एकदम भिन्न चैतन्य में दृष्टि लगा देना चाहिये। फिर शरीर का जो होना हो, सो हो। 'शरीर में नई-नई व्याधियाँ होती रहती हैं,' परंतु भाई! इस शरीर के परमाणु स्वयं

कर्ता होकर ऐसे दशारूप परिणमित हो रहे हैं। मृत्यु तो एक बार होनेवाली है... उसमें ज्ञानस्वरूप की दृष्टि बिना कल्याण नहीं है। चैतन्यशक्ति के गर्भ में परमात्मा विराजमान हैं, उसका स्मरण करना चाहिये।

शरीर का अभ्यास तो दीर्घकाल से है; इसलिये भिन्नता का विचार करना... इस समय निवृत्ति का समय है। कुछ नवीन करना चाहिये... शरीर का लक्ष छोड़कर चैतन्य के अमृत पर दृष्टि लगाना योग्य है।

अंतर की गहरी गुफा में अखंड आनंदमूर्ति आत्मा बैठा है, वह अमर है, उसका लक्ष करना चाहिये। शरीर का तो होता ही रहता है। एक मनुष्य को आठ वर्ष तक ऐसा रोग रहा कि शरीर में कीड़े पड़ गये थे... परंतु उसमें क्या ? दृष्टि वहाँ से हटा लेना चाहिये। हमें आत्मा के अस्तित्व आदि गुणों का विचार करना चाहिये। आत्मा आनंदकंद है।

हमें तो आत्मा की सँभाल करना है। इस शरीर का रोग तो ठीक, परंतु मुख्य रोग तो आत्मा का है। कहा है कि—'आत्मभ्रांति सम रोग नहिं...' वह अनादिकालीन रोग है, उसे मिटाकर आत्मा का हित करना है। 'आत्मा शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन है....' बस, उसी का विचार करना चाहिये। घबराना नहीं... यह अपना हित करने का समय है। आत्मा सहजानंद मूर्ति है—उसका विचार करना चाहिये।

आत्मा असंख्य प्रदेशी, अखंड, अनंत गुण का धाम है। प्रतिसमय जो परिणाम होते हैं, उनका वह दृष्टा-ज्ञाता है। यही समाधि का मंत्र है। ऐसा मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ, सत्समागम का ऐसा साधन मिला, फिर क्या है ? बस, ज्ञानस्वरूप आत्मा की भावना भाना चाहिये... उत्साह रखना चाहिये।

शरीर में रोगादि तो आते ही हैं; अंतर में वीरता होना चाहिये। देखो न, आत्मा तो दृष्टा, ज्ञान-शांति का धाम है... भीतर कफ भरा है, उसका भी जाननेवाला है। किसी की पर्याय किसी में जाती नहीं है और किसी की पर्याय किसी में आती नहीं है। सब अपनी-अपनी पर्याय में पड़े हुए हैं। आत्मा इस शरीर का स्पर्श भी नहीं करता; मात्र कल्पना करता है कि—ऐसा करूँ तो ऐसा हो। शरीर में रोग आता है और सबकुछ होता है—हमें तो अंतर में आत्मा का पुरुषार्थ करना है। आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है, उसकी प्रतीति करना, वही सच्चा मंत्र है। राग से भी रहित है, वहाँ शरीर की क्या बात ?—ऐसे शुद्ध निरंजन चैतन्य का विचार करने योग्य है। उसे लक्ष में लेकर उसका मनन करने

योग्य है। इस शरीर की चिन्ता करने से कहीं रोग मिटनेवाला नहीं है; उसका लक्ष करने से या उसके विचार करते रहने से भी वह नहीं मिटेगा। उसमें धैर्य रखकर आत्मा के विचारों में मन लगाना चाहिये; उसी में शांति है। बाह्य में इच्छानुसार थोड़े ही होता है ?—वह तो परमाणु की पर्याय है।

शरीर शिथिल हो गया, रोगादि आये और शरीर छूटने का समय आ गया... अब शत्रु के सन्मुख तैयार हो जाओ... राग और मोहरूपी शत्रु का सामना करने के लिये कटिबद्ध हो जाओ !.... मैं तो सिंह समान हूँ—ऐसा पुरुषार्थ क्यों नहीं होगा ? रोग की वेदना कहीं आत्मा में नहीं होती, आत्मा तो ज्ञाता है—उसका लक्ष रखना चाहिये। मैं और शरीर पृथक् हैं, मेरा आत्मा ज्ञान और शांति का पिण्ड है, उसका ग्रहण करना चाहिये। आत्मा का रटन करना कि—'मैं ज्ञाता हूँ, मुझमें वेदना नहीं है, दुःख नहीं है, व्याधि नहीं है, मैं ज्ञान और आनंद का पिंड हूँ।' स्वयं अपना कार्य करना चाहिये। जागृति रखना... शांति रखना... यह तो आराधना का काल आया है... इसलिये उसी के विचार करना चाहिये... कोई कुछ सुनाये या न सुनाये, परंतु स्वयं अपना रटन करते रहना चाहिये।

भाई, शरीर तेरा कहना नहीं मानता तो उससे प्रेम किसलिये करता है ?

गुरुदेव वैराग्य का उत्साह जागृत करते हुए कहते हैं कि भाई ! शरीर में फेरफार हो, उससे आत्मा को क्या ? विकल्प या चिंता करने से क्या मिलेगा ? चिंता शरीर के काम नहीं आ सकती।—इसप्रकार दोनों ओर से वह निरर्थक है। शरीर को अपना थोड़े ही मानना है ? आनंद और शांति सब आत्मा में हैं; इस मिट्टी के पुतले में कुछ नहीं है। व्यर्थ ही इधर से उधर और उधर से इधर फिरता रहता है। शरीर को तो छोड़कर जाना है, वह कहीं रहनेवाला नहीं है।

अरे, यह शरीर तेरा कहा नहीं मानता तो उसके साथ प्रेम किसलिये करता है ? जो अपना कहना न माने, उस पर प्रेम कैसा ? शरीर में आत्मा की इच्छानुसार नहीं होता; शरीर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है। देखो न, समयसार आदि की टीका में अंत में आचार्यदेव कहते हैं कि—इस टीका के शब्दों की रचना तो परमाणुओं से बनी है, वह मेरा कार्य नहीं है। जहाँ टीका लिखने की ऐसी स्थिति.... वहाँ इस सबकी तो बात ही और है !

आत्मा भीतर अकेला अबंधस्वरूप है। अंतर्मुख होकर उसमें जितना एकाग्र होगा, उतना ही लाभ है और शुभाशुभ विकार में रुका है, उतनी हानि है। बाह्य में तो जैसा है, वैसा है ही। इस शरीर

की स्थिति देखो न! संसार ऐसा ही है। परवस्तु तुझसे बिलकुल भिन्न है—उसमें तू क्या करेगा?

शरीर निर्बल हुआ... परंतु जो अपना विरोधी है, जो अपनी इच्छानुसार नहीं चलता, उसके सामने क्या देखें? यह शरीर तो बड़ा उत्पाती है... यह तो जैसे 'ऊँट के अठारहों अंग टेढ़े होते हैं' ऐसा है। इसकी तो उपेक्षा करने जैसी है कि—जा, तेरी ओर मैं नहीं देखता। जिसप्रकार घर में कोई सामना करे, उत्पात करे तो उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये?—उसे कौन घर में रखेगा? उसीप्रकार शरीर तो आत्मा से विरुद्ध स्वभाववाला है, वह घड़ी भर में बदल जाता है और विपरीत चलने लगता है, फिर उससे क्या संबंध रखना? उसका लक्ष तो छोड़ देना चाहिये। भीतर रागरहित आत्मा चैतन्य सूर्य विराजमान है, उसकी ओर देख! शरीर की अनुकूलता में या राग में आनंद मानता है, वह तो दुःख है; चैतन्यस्वभाव आनंदरूप है, उसमें लक्ष करना चाहिये।

शुद्ध ज्ञानरूपी आत्मा इस देह मंदिर में छिपा हुआ है। भाई! जब तेरे शरीर के ही परमाणु बदलने लगे, तब उन्हें कौन रोक सकता है? या तो ज्ञाता रहकर जान... या विकल्प करके दुःखी हो। अपने अस्तित्व, वस्तुत्वादि गुण अपने में परिणमित हो रहे हैं; उनका बराबर विचार करना चाहिये। शरीर का जो होना होगा, सो होता रहेगा। अतीन्द्रिय ज्ञानमय आत्मा का स्मरण करना चाहिये। भावना अच्छी रखना चाहिये। रोग तो अनेक प्रकार के आते हैं... सनतकुमार चक्रवर्ती जैसों को भी रोग आये थे! परंतु आत्मा में कहाँ रोग है? रोग तो परद्रव्य है और मेरा आत्मा चैतन्य है, ज्ञान-आनंद का पिण्ड है-ऐसा रटन करना चाहिये। यह तो विचार-मनन करने का अवसर है; उसका प्रयत्न करना चाहिये।

आत्मा पुण्य-पाप से भिन्न और शरीर से भिन्न अकेला चैतन्यकंद आनंदधाम है। बस; अकेला... उसी के विचार... यथार्थ विचार... और विचार! विचार करेगा तो पायेगा।

भेदज्ञान का प्रयोग करने का अवसर आया है। जैसे कसरत करते हैं न! उसीप्रकार इसमें आत्मा और शरीर की भिन्नता की कसरत करने का अवसर आया है। कहा है कि—जितने सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदज्ञान से ही अर्थात् राग से भिन्नता और चैतन्य के साथ एकता करके ही सिद्ध हुए हैं। उसी के अभ्यास का यह अवसर आया है।

शरीर और आत्मा अत्यंत भिन्न हैं, एक-दूसरे का स्पर्श भी नहीं करते। यह शरीर तो मिट्टी का कलेवर और भगवान आत्मा अमृत का पिंड। अमृतस्वरूप भगवान आत्मा अपने को भूलकर मृत कलेवर में मूर्च्छित हुआ है—ऐसा समयसार गाथा ९६ में आचार्यदेव ने इस शरीर को (वर्तमान ही) मृतक कलेवर कहा है।

अरे, यह तो निवृत्ति मिली है। विशेष स्वाध्याय—विचार का अवसर है। अरे, यह व्याधि तो क्या है ? नरक की पीड़ा कितनी है ?—तथापि वहाँ भी जीव विचार करके आत्म प्रतीति करते हैं। भगवान आत्मा चैतन्यमन्दिर है, उसके विचार में कौन रोकनेवाला है ?

शरीर को सब ओर से व्याधि ने घेर लिया हो परंतु दूसरी ओर यह संपूर्ण आत्मा तो बैठा है न! यह शुद्ध ज्ञान-आनंद के चैतन्य सामर्थ्य से भरपूर, बड़े शेर के समान है, जो बकरों को भगा देता है। उसकी ओर देखते ही इस व्याधि का लक्ष छूट जाता है। ऐसे तो कई रोग आते और जाते हैं; उनसे भिन्न अपना सामर्थ्य रखकर भगवान आत्मा भीतर बैठा है—उसके विचार करना चाहिये।

शरीर तो अचेतन पुद्गल का पिण्ड है;
मैं उसका कर्ता या आधार नहीं हूँ;
उसका मुझे पक्षपात नहीं है;
उसका होना हो सो होओ....
मैं तो अपने में मध्यस्थ हूँ।

करणानुयोग का एक सूक्ष्म कथन

जीवों के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं। शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुद्ध परिणाम अबंध है। शुभ-अशुभ परिणाम बंधक हैं। अत: शुभ परिणाम के कारण सर्वथा शुभ प्रकृतियों का स्थितिबंध, अनुभाग बंध और अशुभ परिणामों के कारण सर्वथा अशुभ पाप प्रकृतियों का स्थितिबंध-अनुभागबंध होता है—यदि ऐसी मान्यता हो तो वह असत्य है, इसप्रकार यहाँ बतलाने में आता है।

(१)

(१) श्री धवल पुस्तक ६, पृष्ठ १०२ सू० नं० ६१ में कर्म के ८ बंध स्थान हैं, एक बंध स्थान २८ प्रकृति संबंधी है। उसका नाम इस सूत्र में दिया है, और उन २८ प्रकृति का बंध नरक गति को बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि को होता है, ऐसा कथन सूत्र ६२ में कहा है जो निम्न प्रकार है— नामकर्म के

उक्त आठ बंध स्थानों में यह २८ प्रकृति संबंधी बंधस्थान है। १ नरक गति, २ पंचेन्द्रिय जाति, ३ वैक्रियिक शरीर, ४ तैजस शरीर, ५ कार्माण शरीर, ६ हुंडक संस्थान, ७ वैक्रियिक शरीर आंगोपांग, ८ वर्ण, ९ गंध, १० रस, ११ स्पर्श, १२ नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, १३ अगुरुलघु, १४ उपघात, १५ परघात, १६ अप्रशस्तविहायोगति, १७ त्रस, १८ बादर, १९ पर्याप्त, २० प्रत्येक शरीर, २१ स्थिर, २२ अस्थिर, २३ अशुभ, २४ दुर्भग, २५ दुस्वर, २६ अनादेय, २७ अयशःकीर्ति, २८ निर्माण, इन २८ प्रकृतियों का एक ही भाव में अवस्थान है ॥६१॥

शंकाः—नरकगति के साथ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, जाति नाम कर्मवाली प्रकृतियाँ क्यों नहीं बँधती ?

समाधानः—नहीं, क्योंकि नरकगति के बंध के साथ इन प्रकृतियों के बंधने का विरोध है। नोंध-नामकर्म की २८ प्रकृति के साथ जो शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध होता है, वह निम्नप्रकार है—१ पंचेन्द्रिय जाति, २ त्रस, ३ बादर, ४ पर्याप्तक, ५ प्रत्येक शरीर, ६ वैक्रियिक शरीर, ७ वैक्रियिक शरीरांगोपांग, ८ परघात, ९ अगुरुलघु। (गो०कर्म गा० ४१-४२) धवल के इस सूत्र के द्वारा भी सिद्ध होता है कि नरकगति का बंध करनेवाले जीव के पाप भाव के समय १०० टका (सेंटपरसेंट) पापकर्म नहीं बँधता किंतु उपरोक्त नियमानुसार कुछ पुण्य प्रकृति का भी बंध होता है। नरक में जानेवाले जीव को पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, बादर, प्रत्येक शरीर आदि पुण्य प्रकृति बँधती है।

(२) शुभभाव से बंधनेवाली मनुष्यगति की शुभ प्रकृति के साथ अयशःप्रकृति नामकर्म की पाप प्रकृति का भी बंध होता है तथा संक्लेश के काल में अर्थात् अशुभभाव में तीर्थंकर प्रकृति के बंध के साथ सुभगादि तीन शुभ प्रकृति का बंध होता है। ऐसा श्री धवल पु० ६, पृष्ठ ११९-२० में निम्नप्रकार कहा है—नामकर्म के मनुष्यगति संबंधी उक्त तीन बंधस्थानों में यह तीस प्रकृतिरूप बंधस्थान है। मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति इन दोनों में से कोई एक, निर्माण और तीर्थंकर नामकर्म। इन तीस प्रकृतियों के बंध स्थान का एक ही भाव से अवस्थान है ॥८५॥

शंकाः—तीर्थंकर प्रकृति के साथ उदय में नहीं आनेवाली अप्रशस्त अयशःकीर्ति का उसके साथ बंध कैसे संभव है ?

समाधानः—नहीं क्योंकि, उनके उदय के समान बंध का कोई विरोध नहीं है।

शंका:—संक्लेश काल में भी बंधनेवाले तीर्थंकर नामकर्म के साथ ध्रुवबंधी होने से दुर्भग, दुस्वर और अनादेय, इन प्रकृतियों का बंध क्यों नहीं होता है ?

समाधान:—नहीं, क्योंकि उन प्रकृतियों के बंध का तीर्थंकर प्रकृति के बंध के साथ और सम्यग्दर्शन के साथ विरोध है। संक्लेश काल में भी सुभग, सुस्वर और आदेय प्रकृतियों का ही बंध पाया जाता है।

इसप्रकार धवल, पु० ६ के यह दो आधार से सिद्ध हुआ है कि अशुभभाव से, अशुभभाव के समय शुभ प्रकृतियों का बंध होता है। उस बंध में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और स्थिति चारों प्रकार का बंध होता है।

(२) श्री जैन सिद्धांत प्रवेशिका में से

अब जो बंध ४ प्रकार का है उनमें से स्थिति और अनुभागबंध शुभयोग और अशुभयोग से कैसा होता है ? उसका स्पष्टीकरण श्री जैन सिद्धांत प्रवेशिका में श्री गो० बरैयाजी ने निम्नप्रकार कहा है:—

''**प्रश्न:**—४५१—जिससमय जीव के शुभयोग होता है, उस समय पाप प्रकृतियों का आस्रव होता है ?

उत्तर:—हाँ, होता है।

प्रश्न:—४५२—यदि होता है तो शुभयोग पाप आस्रव का भी कारण ठहरा ?

उत्तर:—नहीं ठहरा, क्योंकि जिस समय जीव में शुभयोग होता है, उससमय पुण्य प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ता है और पाप प्रकृतियों में कम पड़ता है। और उस ही प्रकार जब अशुभयोग होता है, तब पाप प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ता है और पुण्य प्रकृतियों में कम पड़ता है। दशाध्याय-तत्त्वार्थसूत्र अ० ६ में ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के आस्रव के कारण जो तत्प्रदोश आदि कहे हैं। उसका अभिप्राय यह है कि उन भावों से उन-उन प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ते हैं। अन्यथा जो ज्ञानावरणादि पाप प्रकृतियों का आस्रव १०वें गुणस्थान तक सिद्धांत शास्त्र में कहा है, उससे विरोध आवेगा, क्योंकि शुभयोग दसवें गुणस्थान से पहले-पहले होता है।'

(३)

श्री पंडित प्रवर टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० २, पृ० ४१-४१ में कहा है कि—

''कषाय से स्थिति अनुभाग बंध

×××बहुरि तिस कषाय ही करि तिनि कर्म प्रकृति विषैं अनुभाग शक्ति का विशेष हो है सो जैसा अनुभागबंधै तैसा ही उदय काल विषैं तिनि प्रकृतिनिका घना थोरा फल निपजै है। तहाँ घाति कर्मनिकी सब प्रकृतिनी विषैं वा अघाति कर्मनिकी पाप प्रकृतिनी विषैं तो अल्प कषाय होतैं थोरा अनुभाग बंधै है, बहुत कषाय होतैं घना अनुभाग बंधै है, बहुरि पुण्य प्रकृतिनि विषैं अल्प कषाय होतैं घना अनुभाग बंधै है, बहुत कषाय होतैं थोरा अनुभाग बंधै है। ऐसे कषायनि करि कर्म प्रकृतिनि कै स्थिति अनुभाग का विशेश भया, तातैं कषायनि करि स्थितिबंध अनुभागबंध का होना जानना।''

(४)

गोम्मटसार कर्मकांड गाथा १६३ में कहा है कि—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विपरीदेण जहणे अणुभागो सव्व पयडिणं॥१६३॥

अर्थ—विशुद्ध परिणामों से सातावेदनीय आदि शुभ (पुण्य) प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध होता है। (२) संक्लेश परिणामों से असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का अनुभागबंध उत्कृष्ट होता है। विपरीत परिणामों से जघन्य अनुभाग होता है अर्थात् शुभ प्रकृतियों का संक्लेश (तीव्र कषायरूप) परिणामों से और अशुभ प्रकृतियों का विशुद्ध (मंद कषायरूप) परिणामों से जघन्य अनुभाग बंध होता है। इसप्रकार सब अनुभाग बंध जानना॥१६३॥

(५)

श्री अमितगति आचार्यकृत पंचसंग्रह परिच्छेद नं० ४ गाथा ३३९, पृष्ठ ३१६-१७ में इसीप्रकार कहा है। श्री गोम्मटसार तथा श्री पंचसंग्रह की इन गाथाओं से सिद्ध होता है कि तीव्र कषाय के समय अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग बंध उत्कृष्ट होता है और अल्प-अल्प अन्य-अन्य शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध उसी समय होता है।

इस विषय में भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशित श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृष्ठ नं० ७०७ में निम्नप्रकार कहा है:—

प्रश्नः—यदि शुभ पाप का और अशुभ (परिणाम) पुण्य का भी कारण होता है। क्योंकि सर्व कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश (परिणाम) से होता है। कहा भी है—आयु और

गति को छोड़कर शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से होता है और जघन्य स्थितिबंध मंद संक्लेश से होता है, अतः दोनों सूत्र निरर्थक हो जाते हैं।

उत्तरः—अनुभागबंध की अपेक्षा सूत्रों को लगाना चाहिये, अनुभागबंध प्रधान है, वही सुख-दुःखरूप फल का निमित्त होता है। समस्त शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से और समस्त अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से होता है। यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभ के जघन्य अनुभागबंध को भी कारण होता है, पर बहुत शुभ के कारण होने से 'शुभः पुण्यस्य' सूत्र सार्थक है जैसे कि थोड़ा उपकार करने पर भी बहुत उपकार करनेवाला उपकारक ही माना जाता है, उसी तरह 'अशुभः पापस्य' में भी समझ लेना चाहिये। कहा भी है कि 'विशुद्धि से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध होता है तथा संक्लेश से अशुभ प्रकृतियों का और जघन्य अनुभागबंध का क्रम इससे उल्टा अर्थात् विशुद्धि से अशुभ का जघन्य, और संक्लेश से शुभ का जघन्य बंध होता है।'

इस विषय में

त० राजवार्तिक अ० ६ का हिन्दी अनुवाद पंडित श्री मक्खनलालजी न्याय अलंकार से प्रसिद्ध हुआ है। पृष्ठ ४६७ में ऊपर के कथनानुसार वर्णन है—वह विशेष स्पष्ट होने से यहाँ दिया जाता है—

'यही बात दूसरे ग्रंथों में भी नीचे लिखी गाथानुसार है—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विपरीदेण जहणो अणुभागो सव्व पयडिणं॥ गो०क०१६३॥

अर्थः—शुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभागबंध विशुद्ध परिणामों से होता है और अशुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभागबंध संक्लेश परिणामों से होता है तथा शुभ प्रकृतियों में जघन्य अनुभागबंध संक्लेश परिणामों से होता है और अशुभ प्रकृतियों में जघन्य अनुभागबंध विशुद्ध परिणामों से होता है। इसीप्रकार सब प्रकृतियों की दशा है अर्थात् शुभयोग से शुभ प्रकृतियों में अधिक रस पड़ता है और अशुभों में बहुत कम पड़ता है। अशुभयोग से अशुभों में अधिक पड़ता है। शुभ प्रकृतियों में उससे बहुत कम पड़ता है। परंतु रस अवश्य पड़ता है क्योंकि सातों कर्मों का बंध एक साथ प्रतिक्षण होता है।'

उपसंहार

उपरोक्त आगम आधार से सिद्ध होता है कि:—

(१) अशुभभाव से अकेली अशुभ प्रकृतियों का बंध होता है, ऐसा मानना घटित नहीं है।

(२) किंतु उससमय श्री धवल पु० ६ में कहे अनुसार अशुभ प्रकृतियों का और कितनीक शुभ प्रकृतियों का बंध होता है—किंतु शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध होता है।

(३) अशुभभाव और शुभभाव विकार है। इसलिये अशुभभाव के समय जो सब अशुभ प्रकृति ही बंधे तो जीव सर्वथा अशुभ हो जाये और शुभभाव के काल में जीव सर्वथा शुभ हो जाये किंतु वह दोनों भाव विकार होने से कभी ऐसा नहीं बनता।

(४) शुद्धभाव जीव का स्वभाव होने से जीव संपूर्णतया शुद्ध हो सकता है, ऐसा न हो तो कोई जीव सिद्ध ही नहीं हो सकेगा।

(५) अशुभभाव (तीव्र कषाय) के समय सर्वथा अशुभ प्रकृतियों का बंध होता है, ऐसा माना जाये तो नरकायु-नरकगति बांधनेवाले जीव को आगम कथित त्रस-पर्याप्त पंचेन्द्रिय आदि शुभ प्रकृतियों का बंध नहीं होगा तो वह नारकी ही नहीं हो सकेगा, नारकी के योग्य भाव करनेवाले जीव एकेन्द्रिय हो सकते नहीं तो उसके त्रस-स्थावरपने से रहित (मुक्त) सिद्धत्व हो जावेगा जो न्याय विरुद्ध है।

(६) यदि शुभभाव से सर्वथा शुभ प्रकृतियों का बंध होता है, ऐसा माना जाये तो उसको घातिकर्म जो सब पाप प्रकृति है, उसका बंध नहीं होगा; घातिकर्मों का बंध वीतराग को नहीं होता। अत: उनके मत में शुभभाव विभाव नहीं परंतु शुद्ध स्वभाव ठहरेगा, जो अघटित है—विरुद्ध है।

पाठक वर्ग से प्रार्थना है कि इस लेख में दिये गये शास्त्राधार को मूल ग्रंथों में से पढ़कर अपना ज्ञान निर्मल करें।

ॐ

स्वावलंबी उपयोगरूप स्वरूप को साधकर जिस क्षेत्र से सिद्ध हुए, उसी क्षेत्र पर समश्रेणी में ऊर्ध्व सिद्धरूप से विराजमान हैं; उनके स्मरण के कारणरूप यह तीर्थ निमित्त हैं।

[—पूज्य स्वामीजी के हस्ताक्षर]

णमो जिणाणं जिदभवाणं

जितभव नमूं जिनराज को

[पंचास्तिकाय की पहली गाथा पूज्य स्वामीजी का अद्भुत भावपूर्ण प्रवचन]

आज (शास्त्रीय पौष कृष्ण अष्टमी) कुन्दकुन्दाचार्यदेव के आचार्य-पद-आरोहण का मंगल दिन है। आज के दिन इस भरतक्षेत्र के महान धर्म-धुरंधर संत कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भगवान के शासनरक्षक के रूप में जैन शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। मुनिवरों और श्रावकों ने एकत्र होकर उन्हें बहुमानपूर्वक आचार्यपद पर स्थापित किया... पश्चात् वे विदेहक्षेत्र में सीमंधर परमात्मा के पास गये थे और भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनकर फिर इन समयसार, पंचास्तिकाय आदि महान अलौकिक शास्त्रों की रचना की... उनमें से इस पंचास्तिकाय शास्त्र की प्रथम गाथा में जितभव जिनेन्द्रों को नमस्काररूप असाधारण मंगल करते हैं:—

शत-इन्द्र वंदित, त्रिजगहित-निर्मल-मधुर वदनार ने,
निःसीम गुण धरनारने, जितभव नमुं जिनराजने॥१॥

देखो, यह असाधारण मंगलाचरण! अनंत गुणों से परिपूर्ण आनंदधाम जो आत्मतत्त्व है, उसमें निर्मल वीतराग परिणति द्वारा प्रणमन, सो भावनमस्कार है और वह असाधारण मंगलाचरण है।—ऐसे भावनमस्कार द्वारा जिसने जितभव जिनराज को नमन किया, उसके भव का नाश हुए बिना नहीं रहता। भगवान ने भव को जीता है और भगवान का उपदेश चार गति के भ्रमण का नाशक है। भव का नाश किसे होता है? कि भगवान का उपदेश ग्रहण करके जो अंतर्मुख नमन-परिणमन करे, उसके भव का नाश होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ऐसे उपदेशदाता जिनवर भगवंतों को नमस्कार हो।

विकल्प से नमस्कार करना, सो साधारण नमस्कार है; निर्विकल्प परिणतिरूप भावनमस्कार, वह असाधारण नमस्कार है। अनादिकालीन प्रवाह में अनंत तीर्थंकर हुए, उनका स्मरण करके ज्ञान में उनका अचिंत्य बहुमान करते हैं, अर्थात् राग से पृथक् होकर श्रुतज्ञान को स्वोन्मुख करके उल्लसित परिणामों से भवरहित भगवंतों को नमस्कार करते हैं। वह भावनमस्कार भव के अभाव का कारण है। देखो, यह ज्ञान की विशेषता! अनंत केवलज्ञानी जिनवरों को ज्ञान में लेकर नमस्कार करते हैं, वहाँ ज्ञान, राग से भिन्न होकर स्वभावरूप परिणमित होता है। इसप्रकार

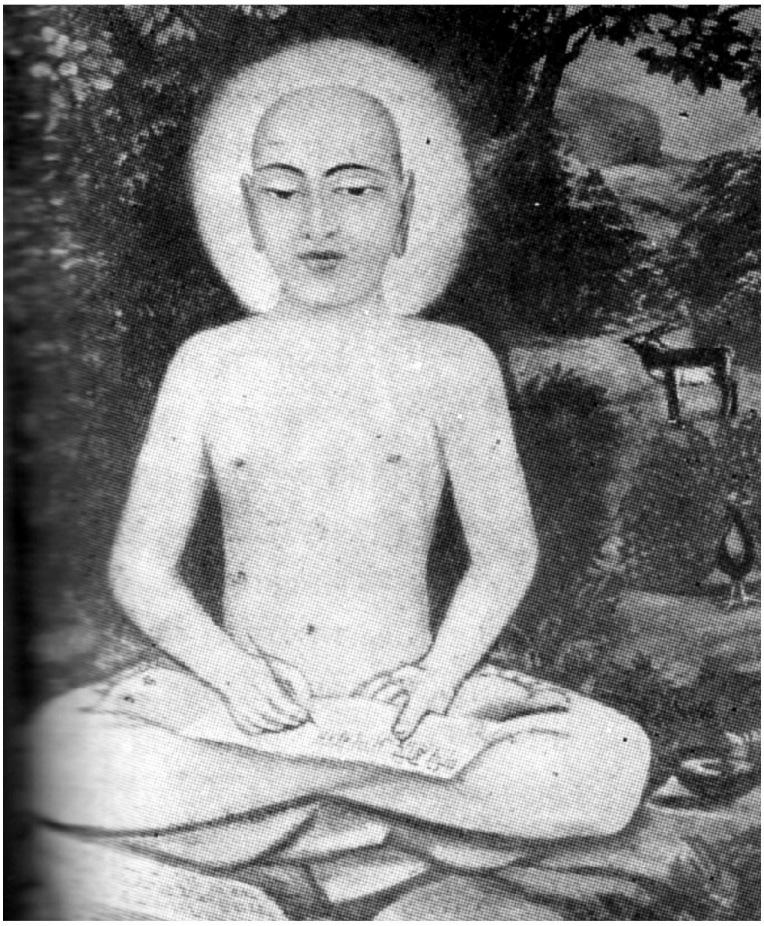

भरतक्षेत्र के महान धर्म धुरन्धर संत श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

जितनी स्वसन्मुख वीतराग परिणमित हुई, उतना भावनमस्कार है और वह असाधारण मंगल है; वह भव को जीतने की रीति है।

'अनंत सर्वज्ञ!' अहा! जिसने उन्हें ज्ञान में लिया, उस ज्ञान की कितनी महत्ता!! वाह! कुन्दकुन्दाचार्यदेव पोन्नूर जैसे वन-पर्वत में बैठे-बैठे अनंत तीर्थंकरों को लक्ष में लेकर, चैतन्य के अध्यात्मरस में लेखनी डुबों-डुबोकर इन शास्त्रों की रचना करते होंगे... उस काल की क्या स्थिति होगी!! मंगलं भगवान वीरो और मंगलं गौतमो गणी—ऐसे तीर्थंकर तथा गणधर के पश्चात् तुरंत ही मंगलाचरण में जिनका नाम आया—(मंगलं कुन्दकुन्दार्यो) उनकी महिमा का कैसे वर्णन किया जाये! उन्होंने तीर्थकर के विरह में इस भरतक्षेत्र में जैनशासन को टिकाए रखा है; आचार्यपद

पर रहकर तीर्थंकर जैसे कार्य किये हैं। वे यहाँ मंगलाचरण में सर्वज्ञ भगवान को अपूर्वभाव से नमस्कार करते हैं—'णमो जिणाणं जिदभवाणां।'

अनादि प्रवाह से प्रवर्तमान तीर्थंकरों को ज्ञान में लक्षगत करे, वहाँ... अहो! निर्विकल्पता ही हो जाती है। तीर्थंकरों का प्रवाह अनादि.. जिसका कोई प्रारम्भ नहीं है—उसे ज्ञान में ले तो ज्ञान, राग से पृथक् होकर अतीन्द्रिय हुए बिना नहीं रहता। जहाँ श्रुतज्ञान ने अनंत तीर्थंकरों को अपने में निवास कराया, वहाँ वह ज्ञान निःशंक हो गया, रागरहित हो गया, निर्विकल्प होकर स्वरूप में परिणमित हुआ।

भव को जीतनेवाले तीर्थंकर-केवली भगवंतों का प्रवाह अनादिकालीन है और उनकी सेवा करनेवाले सौ इन्द्रों का प्रवाह भी अनादिकाल से चला आ रहा है। सौ इन्द्रों के अधिदेव ऐसे जो तीर्थंकर, उनकी सेवा करनेवाले गणधर मुनीन्द्र तथा सौ इन्द्र—उन सबका प्रवाह जगत में अनादिकालीन है; उसका कभी विच्छेद नहीं होता—कभी अभाव नहीं होता। ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान निर्विकल्प होकर असाधारण नमस्कार करता है, इसलिये स्वयं भी साधक होकर उन तीर्थंकरों तथा गणधरों की श्रेणी के प्रवाह में मिल जाता है।

अहा, भगवंत जितभव हैं; उन जितभव जिनवरों को नमस्कार करनेवाला ज्ञान भी भव का नाश करनेवाला जितभव है।

उन भगवान अरिहंतों की वाणी दिव्य है; तीनलोक को आनंद देनेवाली, प्रसन्न करनेवाली, मधुर है, निर्मल है तथा हितमार्ग की प्रकाशक है। समस्त जीवों को निर्बाध, विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय दर्शाती है। इसलिये हितोपदेशी है। देखो, यह भगवान की वाणी का उपदेश! उपदेश में भगवान ने क्या कहा?—कि विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय बतलाया है। आचार्यदेव अपने में निर्बाध विशुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति करके कहते हैं कि—अहो, भगवान की वाणी ने ऐसे निर्बाध विशुद्ध आत्मा के अनुभव की उपलब्धि का उपाय जगत को बतलाया है। 'तू ज्ञानघन है, आनंदरूप है, शुद्ध है'—इसप्रकार आत्मा का स्वसंवेदन करने का भगवान का उपदेश है। देखो, वर्तमान में भरतक्षेत्र में तीर्थंकर का विरह है... परंतु उन तीर्थंकरों का उपदेश कैसा था, वह बात कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने स्पष्ट बतलाकर तीर्थंकरों का विरह भुला दिया है और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी अलोकिक टीका द्वारा कुन्दकुन्द भगवान के हृदय के गम्भीर रहस्य खोलकर गणधर जैसा कार्य किया है। वाह! अंतर से चैतन्यज्योति जगमगा उठे, ऐसी टीका है।

अंतर में किंचित् लक्ष करे तो मुमुक्षु की आंतरिक दशा पलट जाये।

कोई कहे कि कैसे भाव से श्रवण करें?—तो कहते हैं कि भाई, आत्मा को श्रवण के राग से किंचित् पृथक् करके सुनना चाहिये। समयसार में भी कहते हैं कि 'मैं सिद्ध हूँ'—ऐसा लक्ष करके श्रवण करना, राग के लक्ष से श्रवण नहीं करना, उसकी मुख्यता नहीं करना। हमारे और तेरे आत्मा में सिद्धों की स्थापना करके हम तुझे शुद्धात्म प्राप्ति की बात सुनाते हैं, इसलिये उसे तू अपने अंतर में स्थापित करके सुनना। राग को हृदय से निकाल देना अर्थात् श्रवण आदि के समय जो राग है, उस राग पर अपने लक्ष का बल न देना, किंतु अंतर में उसके वाच्यभूत शुद्धात्मा पर अपने लक्ष का बल देना।—ऐसे भावश्रवण को अपूर्व मंगल कहा है।

देखो तो यह भगवान का उपदेश! जिससे जीव का हित हो, ऐसा ही भगवान का उपदेश है। क्या राग के ग्रहण से जीव का हित होता है?—नहीं; राग से पार जो चिदानंद तत्त्व है, उसकी सन्मुखता से ही जीव का हित होता है। ज्ञान की निःशंकता के बल से आचार्यदेव कहते हैं कि—सर्व भगवंतों ने... अभी तक के काल प्रवाह में अनंत तीर्थंकर हुए और वर्तमान में विदेहक्षेत्र में विराजमान हैं... उन सर्व तीर्थंकरों ने चैतन्य के हितरूप मोक्षमार्ग का उपदेश दिया, भगवान का उपदेश सर्व जीवों को हितरूप है, अमृत समान है। कहा है कि—

वचनामृत वीतरागनां परमशांतरसमूल,
औषध जे भवरोगनां कायरने प्रतिकूल।

भवरोग को हरनेवाले ऐसे जितभव जिनराज हैं, उनकी वाणी भी भव को हरनेवाली है। मिथ्यात्वरूपी विष को उतारकर परम अमृतरूप मोक्षपद को प्राप्त करानेवाली होने से वाणी भी अमृत है। मोक्ष को 'अमृत' कहा जाता है, वहाँ पुनः मृत्यु नहीं है; मोक्षदशा प्रगट हुई सो हुई... अब वह सादि-अनंत अमृतप से बनी रहेगी, इसलिये वह अमृत है। ऐसे अमृतपद की प्राप्ति का मार्ग बतलानेवाली वीतराग की वाणी को भी अमृत कहा जाता है। ऐसी अमृतवाणी परम शांतरस का मूल है। चैतन्य के अनुभवरूप जो परमशांति, उसका मार्ग वीतराग की वाणी बतलाती है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने वीतराग भगवान की साक्षात् वाणी को झेलकर इन शास्त्रों में उतारा है। अहा, भरतक्षेत्र में जन्म और विदेहक्षेत्र के भगवान से भेंट... उनकी पवित्रता का क्या कहना! उनके पुण्य की क्या बात!—जिसप्रकार तीर्थंकर की पवित्रता और पुण्य दोनों महान होते हैं, उसीप्रकार आचार्यदेव के भी पवित्रता और पुण्य दोनों महान होते हैं, उसीप्रकार आचार्यदेव के भी

पवित्रता और पुण्य दोनों का अलौकिक मेल हो गया है। दक्षिण की यात्रा के समय श्रवणबेलगोला में श्री बाहुबलीस्वामी के दर्शन किये थे। उन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों अंतर में साक्षात् वीतरागता भरी हो और मुद्रा पर पुण्य का अतिशय झलक रहा हो! बड़ी अद्‌भुत मुद्रा है! मानों पवित्रता और पुण्य का भंडार हो! उनके सर्वांग में चैतन्य की महिमा का चित्रण है। विश्व का एक आश्चर्य है! यहाँ कहते हैं कि भगवान की वाणी ऐसे चैतन्यस्वरूप को दर्शाती है। चैतन्य की परमशांति का अनुभव कैसे हो, वह भगवान की वाणी ने बतलाया है। इस पंचम काल में भी निजस्वरूप की साधना करनेवाले मुनिवर तो बहुत हुए; परंतु साथ-साथ बाह्य में भी भगवान से भेंट करके वह मार्ग बनाए रखने का अलौकिक कार्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने किया है। इस भरतक्षेत्र के धर्मी जीवों पर उनका महान उपकार है।

भगवान का आत्मा अलौकिक है और उनकी वाणी भी अलोकिक है! उनकी आत्मशक्ति की तो बात ही और है! परंतु उनके केवलज्ञान में से निकलनेवाली वाणी भी चैतन्य के अलौकिक रहस्यों से भरपूर है। चैतन्य भगवान अपने स्वभाव का मंथन करता हुआ आगे बढ़ा, वहाँ बीच में साधकभाव में राग से जो अलौकिक पुण्य बंध हुआ, उसके फल में तीर्थंकरादि की ऐसी अलौकिक वाणी निकलती है कि जिसे सुनकर मुमुक्षु के असंख्य प्रदेशों का रोम-रोम उल्लसित हो जाता है... चैतन्य के प्रदेश उल्लास से खिल उठते हैं! यहाँ आत्मा केवलज्ञानरूप से परिपूर्ण हुआ, वहाँ वाणी भी असंख्य प्रदेशों से एकसाथ पूर्ण रहस्य को लेकर प्रगट होती है, वह वाणी त्रिलोक के जीवों को शुद्धात्मा की प्राप्ति के हितकर मार्ग का उपदेश देती है।

जिनवर भगवान ने शुद्धस्वरूप की साधना द्वारा भवों को जीता और उन जितभव-जिनराज की वाणी में भव्य जीवों के लिये भव को जीतने का मार्ग निकला। वाह! यह तो चैतन्य का विकास हो ऐसी बात है! भगवान की वाणी सुनकर भव्यजीवों का आत्मा असंख्य प्रदेशों से खिल उठता है; वह आत्मा स्वयं पूर्ण परमात्मा होकर खड़ा है। वहाँ उनकी वाणी में भी परमात्मपद की प्राप्ति का ही उपाय आता है। उसे सुनकर किसी को क्षपकश्रेणी प्रारम्भ होती है, किसी को चैतन्य की निर्विकल्प धारा उल्लसित होती है; किसी को क्षायिक सम्यक्त्व होता है—इसप्रकार भगवान की वाणी के निमित्त से धर्म की भरपूर धारा प्रवाहित होती है।

भगवान की वाणी कैसी है?—तो कहते हैं कि मधुर है... परमार्थरसिक जीवों के मन को हरनेवाली है... भगवान की वाणी में चैतन्य की महिमा झलक रही है; उसे सुनते ही परमार्थरसिक

जीव मुग्ध हो जाते हैं कि—वाह! प्रभु! तुम्हारी वाणी अलौकिक चैतन्य को प्रकाशित करनेवाली है। चैतन्य का स्वाद चखानेवाली आपकी वाणी की मधुरता का क्या कहना! उसकी मिठास का कैसे वर्णन करें! जिसने एक बार भी उस वाणी का अपूर्वता से नाद सुन लिया, वह उसका मन हर लेती है; इसलिये चैतन्य के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में उसका मन नहीं लगता। इसप्रकार भगवान की वाणी परमार्थ रसिक तथा शुद्धात्मा की शांति के इच्छुक जीवों का मन हरनेवाली है। वाणी सुनते ही उन जीवों का उपयोग मन से हटकर अतीन्द्रिय आनंद की ओर झुक जाता है। भगवान की वाणी संयोग और राग का अवलंबन छुड़ाती है, स्वतंत्र चैतन्य का आश्रय कराती है। इसलिये भी वह मनोहर है। सम्यग्दृष्टि-तिर्यंच से लेकर गणधरादिक संत वे सब परमार्थ रसिक हैं, निर्विकल्प चैतन्य की समाधि में झूलनेवाले हैं... वे भी अत्यंत आदरपूर्वक, अति विनयपूर्वक भगवान की वाणी सुनते हैं। भगवान की वाणी मनहर-मीठी है। भक्ति में भी गाते हैं कि—

जिणंदचन्द वाणी अनुपम अमी समी है,
गुणरत्न केरी खानि बुधमानसे रमी है
मीठास उसकी जाने गवों सभी गवो है;
शरमाई मीठी द्राक्षों वनवास को करे है,

परमार्थ रसिक जीवों को ऐसी ही वाणी रुचिकर है, अन्य वाणी अच्छी नहीं लगती। चैतन्यानुभव के वीतराग रस का मंथन करानेवाली वाणी के अतिरिक्त अन्य वाणी या बात मुमुक्षु को नहीं रुचती। भगवान की वाणी की मिठास से लज्जित होकर मीठी द्राख की बेलें वन में चली गईं कि—अरे! भगवान की वीतरागी वाणी की मिठास के समक्ष हमारी मिठास का क्या मूल्य!! —गणधर भी जिसे सुनकर वीतरागरस में झूल उठते हैं, उस वाणी की मधुरता की क्या बात!! देखो न, यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव की वाणी भी कैसी मधुर है! वह कैसी हितोपदेशी है!—इसप्रकार मानों शुद्धात्मा को सन्मुख लाकर साक्षात्कार कराते हैं। उन्होंने तो भगवान की वाणी का साक्षात् श्रवण किया है न!! इसलिये उनकी वाणी में भी उनकी झंकारित ध्वनि है। ऐसी वीतरागी वाणी द्वारा मुमुक्षुओं चैतन्य की साधना करते हैं, वीररूप से वीतरागमार्ग को साधते हैं, वे ही अभिनंदनीय हैं। भले ही स्त्री के शरीर में हों, किंतु जो आत्मा ऐसे चैतन्य रसिक हैं, वे धर्मात्मा अभिनंदनीय हैं। जितभव भगवान की वाणी झेलकर वे निर्बाधरूप से वीरतापूर्वक मोक्षमार्ग को साधते हैं और भव को जीतकर भगवान होते हैं।

णमो जिणाणं.... जिदभवाणं

प्रवचन में चैतन्य दर्शक वीतरागवाणी की ऐसी अद्‌भुत महिमा सुनकर वीरमार्गसाधक जीवों के जय जयकार से श्रोताओं की सभा गूँज उठी—

* जैनशासन शिरोमणि दिव्यध्वनि के श्रोता कुन्दकुन्दाचार्यदेव की जय हो.... !

* दिव्यध्वनि के रहस्य खोलनेवो अमृतरस का पान करानेवाले कुन्द-लघुनंदन गुरुदेव की वाणी की जय हो.... !

सम्यक्त्व

निष्कम्प मेरुवत् अरु निर्मल ग्रही सम्यक्त को,
श्रावक ! उसे ध्यावो खरे जो दु:ख क्षय का हेतु है ॥८६॥
सम्यक्त को जो ध्यावते वह जीव सम्यग्दृष्टि है,
दुष्टाष्ट कर्मों क्षय करे सम्यक्त्व के परिणाम से ॥८७॥
अधिक क्या कहिये अरे ! सिद्ध हुए अर जो होयगा,
सिद्ध हो रहे जो नरवरो, महिमा सभी सम्यक्त का ॥८८॥
सम्यक्त्व सिद्धि कर अहो ! स्वप्न में भी न दुषित है,
वो धन्य है सुकृतार्थ है; शूरवीर अरु पंडित है ॥८९॥

(भगवान कुन्दकुन्द स्वामी)

तीन काल अरु तीन लोक मैं सम्यक्त्वसम नहीं श्रेय है,
मिथ्यात्व सम अश्रेय को नहिं, जगत में रस जीव के ॥३४॥

(श्री समंतभद्र स्वामी)

मोक्षमार्ग

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'

जिसप्रकार मोक्ष एक ही प्रकार का है, उसीप्रकार उस मोक्ष का कारण भी एक ही प्रकार का है। मोक्षमार्ग कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, शुद्ध आत्मा की अनुभूति कहो या जैन शासन कहो,... वह सब आत्मा के भूतार्थ स्वभाव के आश्रित ही है—यह जैन सिद्धांत का रहस्य है।

मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है, वह एक ही प्रकार का है। मोक्षमार्ग के कहीं दो प्रकार नहीं हैं। सम्यग्दर्शनादि भी मोक्षमार्ग है और व्रतादि शुभराग भी मोक्षमार्ग है—इसप्रकार कहीं दो मोक्षमार्ग नहीं हैं। एक ही मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं है। मोक्षमार्ग के सहचारी की अपेक्षा या निमित्त अपेक्षा से व्रतादि को मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है परंतु उसके साथ मोक्षमार्ग को देखकर उसमें मोक्षमार्ग का उपचार किया है। सच्चा मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शनादि ही है। शुद्धद्रव्य की दृष्टि में सम्यक्त्वी को व्यवहार का आश्रय है ही नहीं।

जिसप्रकार परद्रव्य भिन्न हैं, उसीप्रकार व्यवहार की रागादि परिणति को धर्मी जीव मोक्षमार्ग से भिन्न जानते हैं; रागादि परिणति को वे मोक्षमार्ग के साथ एकमेक नहीं करते। यथार्थ मोक्षमार्ग को ही सच्चा मोक्षमार्ग कहना, सो निश्चय है और जो सचमुच मोक्षमार्ग न हो, उसमें किसी अपेक्षा से मोक्षमार्ग का उपचार करना, सो व्यवहार है; वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा समझना।

मुनि के यथार्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह तो सचमुच मोक्षमार्ग है और उस मोक्षमार्ग के सहकारीरूप से महाव्रत के विकल्प को या दिगम्बर मुद्रा को मोक्ष का कारण कहना, सो उपचार है; वह कहीं मोक्ष का यथार्थ कारण नहीं है।

साधक को एक ही पर्याय में कुछ अंश में शुद्धता है, तथा कुछ अंश में रागादिक अशुद्धता भी है—एक ही पर्याय में दोनों भाव हैं; परंतु वे दोनों भाव कहीं मोक्ष का साधन नहीं हैं; जितने अंश में शुद्धता है, उतने अंश में मोक्ष का साधन है, तथा जितने अंश में अशुद्धता है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। दोनों भाव एक-दूसरे से विपरीत हैं, तथापि एक ही पर्याय में दोनों भाव हैं। उसमें **जो**

शुद्धता है, उसके साथ सम्यक्त्वी को एकत्वपरिणमन है और जो अशुद्धता है, उसके साथ एकत्व परिणमन नहीं है, उस अपेक्षा से सम्यक्त्वी उससे मुक्त है।

अब, शुद्धता सो निश्चय और अशुद्धता सो व्यवहार—ऐसा होने से **सम्यक्त्वी निश्चय में लीन है और व्यवहार से मुक्त है।** शुद्धता में तो उपादेयरूप से वर्तते हैं और अशुद्धता को हेयरूप जानते हैं।

एक ही समय की पर्याय में अंशत: शुद्धता और अंशत: अशुद्धता दोनों एक साथ हैं। बहुतों को ऐसा लगता है कि एक ही समय में दो भाव किसप्रकार होते हैं? परंतु चारित्र की पर्याय में ऐसे दो प्रकार एक साथ होते हैं। ज्ञान की पर्याय में एक साथ दो उपयोग नहीं होते, परंतु चारित्र की पर्याय में अंशत: शुद्धता और अंशत: अशुद्धता—दोनों एक साथ साधक को होते हैं। यदि अंशत: शुद्धता न हो तो साधकपना कैसा? और यदि अंशत: अशुद्धता न हो, तो भी साधकपना कैसे होगा? यदि अंशत: भी अशुद्धता न हो और अकेली अशुद्धता ही हो तो मिथ्यादृष्टिपना होय, और यदि आंशिक भी अशुद्धता न होय और पूर्ण शुद्धता ही हो, तब तो सिद्धदशा होगी। इसलिये साधक को तो अंशत: शुद्धता भी होती है और अंशत: अशुद्धता भी होती है।

—परंतु उसमें विशेषता यह है कि जो शुद्धता है, वह मोक्षमार्ग है, वह निश्चय है और सम्यक्त्वी उसमें लीन है; तथा जो अशुद्धता है, मोक्षमार्ग नहीं है, उसे व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है और सम्यक्त्वी उसमें लीन नहीं है; उससे पृथक् है, उससे मुक्त है। इसप्रकार एक ही परिणति में भिन्न-भिन्न भावों को यथार्थ पहचानना, सो भेदज्ञान है।

अरे जीव! कौन से भाव तुझे शरण हैं और कौन से अशरण हैं—उसके ज्ञान बिना तू अनादिकाल से संसार में भटक रहा है। संसार में परिभ्रमण करते हुए क्या अब भी तुझे थकान नहीं लगी? भाई, शरणभूत तो शुद्ध आत्मा है; और उस शुद्ध आत्मा को देखनेवाला शुद्धनय अभूतार्थ है, वह शुद्धनय-परिणति शुद्ध आत्मा के साथ एकाकार हुई, इसलिये उसे भी भूतार्थ कह दिया है और उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि हैं। अशुद्धता शरणरूप नहीं है। उस अशुद्धता को देखनेवाला व्यवहारनय अभूतार्थ है, अशरण है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि नहीं हैं।

यथार्थ मोक्षमार्ग का जैसा स्वरूप है, वैसा ही निश्चयनय निरूपण करता है; व्यवहारनय तो निमित्तादि की एकमेकता सहित निरूपण करता है, वह यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं है।

जिसप्रकार मोक्षमार्ग एक ही प्रकार का है; उसीप्रकार उस मोक्ष का कारण भी एक ही

प्रकार का है।—एक ही प्रकार का मोक्षमार्ग है,—अन्य प्रकार या अन्य कारण कहना, वह तो उपचारमात्र है।

अशुद्धता को देखनेवाला व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धस्वभाव को देखनेवाला शुद्धनय भूतार्थ है; उसमें भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि हैं। यह महा सिद्धांत कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की ११वीं गाथा में बतलाया है, वह जैनशासन का मूल है; जैन सिद्धांत का रहस्य उसमें भर दिया है। जो शुद्धात्मा को देखता है—अनुभव करता है, वही समस्त जैनशासन को देखता है, उसने समस्त शास्त्रों का निचोड़ जाना है। श्रुतज्ञान को अंतर्मुख करके शुद्धात्मा को जो नहीं जानता, वह जैनशासन को नहीं जानता। देखो तो सही, आचार्यदेव ने कैसा स्पष्ट रहस्य खोला है। शुद्धनय द्वारा जो शुद्धात्मा की अनुभूति है, वही जैनशासन की अनुभूति है; वही मोक्षमार्ग है। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का समावेश हो जाता है और वही जैन सिद्धांत का रहस्य है।

आराधना का उत्साह

सम्यक्त्वादि की आरधना की भावना करनी चाहिये, आराधना के प्रति उत्साह बढ़ाना चाहिये; आराधक जीवों के प्रति बहुमान सहित वर्तन करना—इत्यादि सर्व प्रकार के उद्यम द्वारा आत्मा को आराधना में लगाना चाहिये।—यह मुनि तथा श्रावक सभी का कर्तव्य है।

आराधना को प्राप्त जीवों का दर्शन तथा सत्संग आराधना के प्रति उल्लास जागृत करता है।

चार भाई

चार भाई हैं, महा सुंदर, महापवित्र, महा समर्थ... इनकी माता है जिनवाणी, इनके पिता एक मुनिराज हैं.... इनकी ननिहाल विदेह क्षेत्र में है... इनका जन्म स्थान पोन्नूर धाम है... चारों भाई जरी के सुंदर वस्त्राभूषण से सोनगढ़ के स्वाध्याय मंदिर में शोभित हो रहे हैं... कानजीस्वामी को ये चारों भाई बहुत ही प्रिय हैं और इनके पास से हमेशा कुछ न कुछ नवीन जानते हैं... जो कि उनके दूसरे भी कितनेक भाई हैं लेकिन यह चार भाई तो जैनशासन में अद्वितीय हैं... अनेक संत-मुनियों ने उनका बहुमान किया है... और कोई एक मुनियों ने उनकी टीका भी की है... पहिचाना आपने इन चार भाई को ? देखो ये चार भाई—

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय। कैसे मजे के चार भाई हैं! कैसे सुंदर! कैसे पवित्र! और कैसे समर्थ! इनकी माता जिनवाणी है। कुन्दकुन्द भगवान की इन कृतियों का ननिहाल-महाविदेह में-सीमंधरनाथ की धर्मसभा में है... पोन्नूर धाम इनका जन्मस्थान है कि जहाँ बैठे-बैठे कुन्दकुन्दस्वामी ने यह महान शास्त्रों को स्वानुभूति से जन्म दिया... सोनगढ़ के स्वाध्याय मंदिर में ये चारों महान शास्त्र जरी के पूठे से शोभित हो रहे हैं... यह चारों शास्त्र कानजीस्वामी को बहुत प्रिय हैं और हमेशा उनकी गहन (गहरी) स्वाध्याय द्वारा उसमें से नये-नये भाव प्राप्त करते हैं... यह चार महाशास्त्र उपरांत अष्टप्राभृत वगैरह शास्त्र भी कुन्दकुन्दस्वामी ने रचे हैं। कुन्दकुन्दसवामी के यह रत्न चतुष्टय जैन शासन में अजोड़ हैं... कुन्दकुन्दस्वामी के बाद में हुये अनेक मुनियों ने बहुमानपूर्वक स्वयं के शास्त्रों में कुन्दकुन्दाचार्यदेव के समयसारादि का अनुकरण किया है; अमृतचन्द्रसूरि, पद्मप्रभ मुनिराज, जयसेनाचार्य वगैरह मुनियों ने वह शास्त्र पर टीका रची है। नमस्कार हो भव्यजीवों के परम बांधव वह समयसारादि भगवन्तों को... और उनके प्रणेता संतों को!

ज्ञानी का मार्ग निराशा का नहीं, शूरवीरता का है

✻ केवल निराशा प्राप्त करने से जीव को सत्समागम का प्राप्त लाभ भी शिथिल हो जाता है।

(७७८)

✻ खेद न करते हुए शूरवीरता ग्रहण करके ज्ञानी के मार्ग पर चलने से मोक्षपुरी सुलभ ही है।

(८१९)

[श्रीमद् राजचन्द्र]

पोन्नूर का अभिनंदन–पत्र

संवत् २०१५ में पूज्य स्वामीजी कानजीस्वामी ने जब दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा की उस समय अनेक नगरों में जैन जनता की ओर से उन्हें अभिनंदन–पत्र दिये गये थे। उनमें से कुछ अभिनंदन पत्र गुजराती आत्मधर्म में प्रकाशित किये जा चुके हैं, कुछ और भी क्रमशः प्रकाशित किये जायेंगे। दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा करते हुए पूज्य गुरुदेव को कुन्दकुन्दस्वामी की पावन तपोभूमि पोन्नूर की यात्रा से अति प्रमोद हुआ था। आज भी स्वामीजी कई बार पोन्नूर का स्मरण बड़े भक्तिभाव से करते हैं—मानों वर्तमान में भी कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ विचर रहे हों!! जब आप पोन्नूर यात्रा का वर्णन करते हैं, तब मुमुक्षु श्रोताओं की दृष्टि के समक्ष कुन्दकुन्दाचार्यदेव मानों साक्षात् खड़े हो जाते हैं। जिसप्रकार हम सबको स्वामीजी के साथ उस पावन भूमि की यात्रा से महान आनंद हुआ, उसीप्रकार उस तामिल देश की जैन–जनता को भी कुन्दकुन्दाचार्यदेव के महान उपासक ऐसे पूज्य कानजीस्वामी को अपने देश में आया देखकर अपार हर्ष हुआ था। तामिल और गुजराती यद्यपि एक–दूसरे की भाषा नहीं समझते थे, परंतु वहाँ की जनता ने पूज्य कानजीस्वामी के प्रति जो भक्तिभाव और प्रेम प्रदर्शित किया, वह उनके दिये हुए अभिनंदन–पत्र में प्रगट होता है—जिसे पढ़कर आज भी हम सबको अति आनंद होता है। स्वामीजी पोन्नूर पधारे तब (तारीख १४–३–५९ को) एक ही दिन में वहाँ के विभिन्न नगरों की जैन समाज द्वारा छह अभिनंदन–पत्र अर्पित किये गये थे। उनमें से पोन्नूर जैन समाज द्वारा तामिल भाषा में दिये गये एक अभिनंदन–पत्र के गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है।

★★★

जिन मंदिर शिलान्यास

रणासण (अहमदाबाद फतेपुर) मंगसर सुदी १० तारीख ३–१२–६५ को नूतन जिनमंदिर का शिलान्यास विधिपूर्वक श्री कोमलचंदजी गोधा (जयपुर) के शुभ हस्त से सम्पन्न हुआ। इस मंगल समारोह में खास आमंत्रण पर बंबई से श्री नवनीतभाई आदि तथा सोनगढ़ से श्री खेमचंदभाई आदि तथा आसपास के २०–२५ गाँव से मेहमान पधारे थे, श्री बाबूभाई के द्वारा गुजरात में अनेक विध पवित्र प्रशस्त धर्म प्रभावना हो रही है। उन सबको धन्यवाद।

जैनधर्म जयवंत हो! सद्धर्म वृद्धिंगत हो!

सोनगढ़ श्री कानजी स्वामी

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के दिवंगत धाम पोन्नूर पर्वत पर दिनांक
१४-३-५९ शनिवार को पधारे थे, उस अवसर पर
पोन्नूर के जैनसमाज द्वारा हार्दिक—
प्रेम पूर्वक दिया गया

स्वागत-पत्र

हे समयसार व्याख्याता श्री कानजी स्वामी!

पधारो! पधारो!! पधारो!!!—इसप्रकार महान प्रेम से आपका स्वागत करते हैं। अपने भारत देश का पुरातनधर्म-जैनधर्म—यहाँ किसी काल में अद्वितीयरूप से चमक रहा था। श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, इलंगोवडिकल, तिरुतक्कदेवर, भवनन्दिमुनि, तोलामोलिदेवर जैसे जैनधर्म के आधारभूत आचार्यवरों ने जन्म लेकर पवित्र किये हुए हमारे तामिल प्रान्त में आपके आगमन पर हम श्रद्धापूर्वक आपका स्वागत करते हैं।

धर्मोपदेश देनेवाले हे धर्मात्मा!

आपने श्री कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार तत्त्व ग्रंथ द्वारा नया विकास, नई प्रतिभा, नवीन स्थिति आदि प्राप्त किये हैं। भगवान ऋषभदेव के सद्धर्म की यथार्थ वस्तु जो समयसार है, उसकी गहराई में (हार्द में) पहुँचकर आपने उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, तथा स्वयं प्राप्त किये हुए सम्यग्ज्ञान का आप सारे देश में प्रचार कर रहे हैं। आपकी प्रतिभा एवं प्रवचनशैली से हजारों लोग सच्चे मार्ग पर आरूढ़ होकर सम्यग्ज्ञानी बन रहे हैं। आपके इस चमत्कार युक्त कार्य को देखकर दुनियाँ चकित हो रही है।

तामिलनाडु में पधारे हुए हे अद्वितीय नेता!

दक्षिण प्रान्त की महत्ता के उदाहरणभूत कुन्दकुन्द नामक ग्राम में जन्म लेनेवाले श्री पद्मनन्दि आचार्य जिसप्रकार उस ग्राम के नाम से प्रसिद्ध हुए, उसीप्रकार उन महान आचार्य के तपश्चर्या के पश्चात् दिवंगत होने के कारण यह पर्वत कुन्दकुन्द पर्वत नाम से प्रसिद्ध हुआ;

इसप्रकार पौराणिकता को प्राप्त उसकी गरिमा सर्वोपरि प्रतिष्ठित है। आपको उसका स्मरण कराते हुए हम संतोष का अनुभव करते हैं।

प्रशंसा और निन्दा को हँसते-हँसते सहन करके धार्मिक कृत्य करनेवाले हे स्वामिन्!

प्राकृत भाषा में समयसारादि महान ग्रंथराजों की रचना करके ख्याति प्राप्त करनेवाले श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तामिल भाषा में भी 'तिरूक्कुरल' नामक एक अद्वितीय ग्रंथ की रचना की है; उसकी महत्ता जानकर सभी धर्मों के अनुयायी उसे अपना-अपना वेद कहते हैं; ऐसे उस ग्रंथराज में कहा है कि—'**अपने को खोद डालनेवाले को भी सहनशीलतापूर्वक उठानेवाली धरती की भाँति किसी भी अनुचित बातों से गालियाँ देनेवाले के प्रति भी क्षमा करना वह महान पुरुषों का कर्तव्य है।**'

—इस उत्तम नीति के तो आप उदाहरणस्वरूप हैं। हे स्वामी! जिसप्रकार आप समयसार का पठन-पाठन करते हैं, उसीप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य के 'तिरूक्कुरल महाकाव्य' का भी अध्ययन करके अपने शिष्य समुदाय को उपदेश देने के लिये हम प्रार्थना करते हैं।

हे श्री दिगम्बर मुमुक्षु संघ के नायक!

इस कुन्दकुन्दाचार्य के पर्वत पर प्रतिवर्ष हजारों यात्री आकर दर्शन करते हैं और आपका आगमन होने पर यह इतिहासांकित पुनीत पर्वत अधिक प्रशंसा पात्र बन गया है। आपके संघसहित पधारने की स्मृतिस्वरूप इस पर्वत के निकट एक जैन गुरुकुल की स्थापना करके उसके द्वारा वर्तमान पुरातत्त्व को प्राप्त करने तथा सत्यज्ञान एवं सत्यधर्म का मार्ग दिखलाने के लिये हम प्रार्थना करते हैं।

पोन्नूर
१४-३-५९

आपके प्रेमानुरागी—
श्री कुन्दकुन्द पर्वत संबंधी पोन्नूर जैन समुदाय

सम्यक्त्व के उपाय सूचक

—: प्रश्नोत्तर :—

[श्री प्रवचनसार गाथा ८० के प्रवचनों से]

प्रश्न—जीव ने अनादि काल से क्या प्राप्त नहीं किया ?

उत्तर—जीव ने अनादि काल से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया।

प्रश्न—वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?

उत्तर—अरिहन्त भगवान समान अपने शुद्ध आत्मा को जानने से सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न—'आत्मा को जाने तभी अरिहंत को यथार्थरूप से जानता है'—ऐसा न कहकर, 'जो अरिहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है'—ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—वास्तव में निश्चय से तो ऐसा ही है कि—जो अपने आत्मा को जानता है, वही अरिहंत-सिद्ध आदि को यथार्थरूप से जानता है; परंतु यहाँ जो जीव आत्मा को जानने के प्रयत्न में वर्त रहा है, उसे प्राथमिक भूमिका में विकल्प के समय कैसा ध्येय होता है, वह बतलाया है और इसप्रकार पहले ध्येय का निर्णय करके, फिर अंतर्मुख होकर अपने आत्मा को वैसा ही जानता है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन के प्राथमिक अभ्यासवाले जीव की बात होने से, तथा वह जीव अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष में लेकर उसके द्वारा अपने आत्मा का निश्चय करता है, इसलिये ऐसा कहा कि—'जो जीव अरिहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है।'

प्रश्न—अरिहंत को जाने बिना आत्मा को जाना जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं; भगवान अरिहंतदेव सर्वज्ञ हैं, उन सर्वज्ञ के निर्णय बिना ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय नहीं हो सकता।

प्रश्न—अरिहन्तदेव तो पर हैं, उनका हमें क्या काम ?

उत्तर—अरिहंतदेव पर हैं, यह बात सच है, परंतु उन्हें आत्मा की पूर्णदशा प्रगट हो गई है, इसलिये उनका ज्ञान होने से इस आत्मा के पूर्ण स्वभाव का ज्ञान होता है, क्योंकि निश्चय से जैसा अरिहंत का आत्मा है, वैसा ही यह आत्मा है, उसमें कोई अंतर नहीं है। अरिहंत का निर्णय कहीं अरिहंत के लिये नहीं करना है, किंतु अपने ध्येय का निर्णय करते हुए उसमें अरिहंत के स्वरूप का

निर्णय आ जाता है। जिसे अरिहंत के स्वरूप का निर्णय नहीं है, उसे वास्तव में अपने ध्येय का ही निर्णय नहीं है, अपने आत्मा का ही निर्णय नहीं है, इसलिये वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

प्रश्न—अरिहंत को जानने से आत्मा का ज्ञान किसप्रकार होता है ?

उत्तर—सम्यक्त्व सन्मुखी जीव को प्रथम ऐसा विचार जागृत होता है कि—आत्मा की पूर्ण ज्ञान-आनंददशा को प्राप्त जीव कैसा होता है ? इसलिये विचारपूर्वक वह अरिहंत देव के स्वरूप का ज्ञान करता है; वह स्वरूप जानते ही उसे कुदेवादि का सेवन तो छूट गया है; ज्ञान-आनंदस्वरूप से जो विपरीत है, ऐसे रागादि भावों में आदरबुद्धि छूटकर स्वरूप में आदरबुद्धि हुई है और इसप्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप की आदरबुद्धि के बल द्वारा विकल्प भूमिका से पृथक् होकर, अतीन्द्रिय स्वभाव की सन्मुखता से अपने आत्मा को जानता है। इसप्रकार अंतर्मुख होकर जिसने आत्मा को जाना, उसी ने सर्वज्ञ की सच्ची स्तुति की, इसलिये उसी ने वास्तव में केवली भगवान को जाना है। (देखो, समयसार गाथा-३१) अरिहंत के स्वरूप की विचारधारा निजस्वरूप का निर्णय करके जो अंतर्मुख स्वरूप में झुक गया, उसे आत्मा का ज्ञान हुआ।—इसप्रकार अरिहंत को जानने से आत्मा का ज्ञान होता है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि मेंढ़क को अरिहंत का निर्णय कैसे होता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि मेंढ़क को भी अरिहंत के स्वरूप का निर्णय अवश्य हो गया है; 'अरिहंत' ऐसे चार अक्षर का ज्ञान या भाषा उसके भले न हो, परंतु अपने अंतर्वेदन में अरिहंत के स्वरूप का निर्णय भी उसको हो ही गया है। मैं ज्ञान हूँ, राग और शरीर मैं नहीं हूँ, पूर्ण साध्य के लक्ष से अंतर में आनंद का वेदन होता है, वह उपादेय है; राग का वेदन हेय है—ऐसा जहाँ अपने वेदन से निर्णय किया, वहाँ उस मेंढ़क को ऐसा भी निर्णय हो गया कि ऐसे ज्ञान और आनंद की पूर्ण दशा विकसित हो जाये, वही मुझे उपादेय है। अरिहंत के स्वरूप से विपरीत ऐसे रागादि मुझे उपादेय नहीं हैं। इसप्रकार अरिहंत का जैसा स्वरूप है, वैसा उसके अभिप्राय में आ गया है तथा उससे विपरीत अभिप्राय का उसके अभाव है।

प्रश्न—अरिहंत के निर्णय में 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' किसप्रकार आ जाता है ?

उत्तर—अरिहंत भगवान को पूर्ण ज्ञान-आनंद प्रगट हो गये हैं, रागादि सर्वथा छूट गये हैं। पहले उनको भी रागादि थे, परंतु भेदज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा को ही उपादेय जानकर तथा रागादि को हेय समझकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र द्वारा उन्होंने अरिहंतपद को साधा। जिसने अरिहंत के ऐसे

स्वरूप का निर्णय किया, उसकी श्रद्धा में ऐसा भी आ गया कि—मेरा जीवस्वभाव अरिहंत भगवान समान है; उन्हें जो पूर्ण ज्ञानानंद दशा प्रगट हुई, वही मुझे उपादेय है अर्थात् मोक्षतत्त्व ही उपादेय है; उनके जो रागादि छूट गये हैं, वे मुझे भी छोड़ने योग्य हैं अर्थात् आस्रव-बंधतत्त्व हेय हैं। मोक्षदशा प्रगट करने का तथा आस्रव-बंध के नाश का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे मुझे करनेयोग्य हैं अर्थात् संवर-निर्जरा करने योग्य हैं—इसप्रकार अरिहंत के निर्णय में तत्त्वश्रद्धान का भी समावेश है।

प्रश्न—प्रथम आत्मा को जानना चाहिये या अरिहंत को ?

उत्तर—दो में से एक का यथार्थ ज्ञान करते हुए दूसरे का ज्ञान भी हो ही जाता है, क्योंकि परमार्थ से आत्मा और अरिहंत के स्वरूप में कोई अंतर नहीं है। आत्मा के स्वरूप को न जाननेवाला अरिहंत के स्वरूप को भी नहीं जानता, और अरहंत के वास्तविक स्वरूप को (द्रव्य-गुण-पर्याय से) जाननेवाला अपने आत्मा को भी अवश्य जानता ही है। इसप्रकार अरिहंत के स्वरूप का ज्ञान और अपने आत्मा का ज्ञान—इन दोनों की संधि समझना।

प्रश्न—आत्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर—आत्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन द्वारा, पूर्व अनंतकाल में जो नहीं हुई, ऐसी आत्म प्राप्ति होती है। अतः विपरीतअभिप्रायरहित शुद्धात्मानुभूतिवाला सम्यग्दर्शन उपाय है।

प्रश्न—उस शुद्धात्मानुभूति के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—प्रथम तो अरिहंतदेव के आत्मा को द्रव्य से, गुण से तथा पर्याय से जानकर, वैसे ही स्वभाववाले अपने आत्मा को जानना चाहिये, और इसप्रकार आत्मा को जानकर द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विचार छोड़कर, व्यक्त जो ज्ञानपर्याय है, उसको अंतर्मुख करने से, विकल्पातीत ऐसी शुद्धात्मा की अनुभूति होती है, वही सम्यग्दर्शन की रीति है।

प्रश्न—कौन सा जीव सम्यग्दर्शन के आँगन में आया कहा जाता है ?

उत्तर—अरिहंत समान अपने आत्मा को जानकर, उसके मनन की धारा में अप्रतिहतरूप से जो वर्तता है, वह जीव सम्यग्दर्शन के आँगन में आया कहा जाता है।

प्रश्न—आँगन में आने पर भीतर कैसे प्रवेश करना चाहिये ?

उत्तर—अरिहंत भगवान समान अपने जिस स्वरूप का निर्णय विचारधारा से किया है, उस स्वरूप में अंतर्मुख होने के बारम्बार अति दृढ़ अभ्यास द्वारा, पर्याय को उसमें लीन (अभेद-

एकाकार) करके अनुभव करना ही स्वभाव में प्रविष्ट होने की रीति है; उस अनुभव की निर्विकल्पदशा में द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का विचार भी नहीं होता, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय की अभेदता के सहज आनंद का वेदन होता है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के इसी उपाय को 'समयसार' की भाषा में कहना हो तो ?

उत्तर—समयसार के पहले ही कलश में—'स्वानुभूत्या चकासते'—ऐसा कहकर शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय बतलाया है। आत्मा अपनी स्वानुभूति से ही प्रकाशमान है, राग द्वारा उसका अनुभव नहीं होता, किंतु अंतर्मुख होकर स्वानुभव द्वारा ही वह अनुभव में आता है। अथवा—

भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो

—इसमें सम्यग्दर्शन की रीति बतलाते हुए कुन्दकुन्दस्वामी स्पष्ट कहते हैं कि—भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है। 'भूतार्थ स्वभाव का आश्रय' कहो, 'स्वानुभूति' कहो अथवा 'अरिहंत समान अपने आत्मा का ज्ञान' कहो—इन तीनों का एक ही भाव है और वही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

प्रश्न—आगम का विधान क्या है ? संतों का उपदेश क्या है ?

उत्तर—अंतर्मुख होकर शुद्धात्मा की अनुभूति करना ही आगम का विधान है, वही संतों का आदेश है; क्योंकि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अंतर्मुख होकर ज्ञानस्वरूप से परिणमित हो, वही मोक्ष का हेतु है; इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ (पाप या पुण्य) है, वह बंध का हेतु है, इसलिये ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात् शुद्ध आत्मा की अनुभूति करने का ही आगम में विधान है, वही आगम का और संतों का फरमान है। जो जीव, राग को कर्तव्य मानता है या मोक्ष का साधन मानता है, उसे तो अभी आगम के विधान की या संतों के आदेश की ही खबर नहीं है।

प्रश्न—मोक्षतत्त्व की प्रतीति करनेवाला सम्यग्दृष्टि है सो कैसे ?

उत्तर—आस्रव-बंधरूप विकार से रहित ऐसा परिपूर्ण मोक्षतत्त्व जिसने प्रतीति में लिया, उसे विकाररहित ऐसा शुद्ध आत्मस्वभाव प्रतीति में आ ही जाता है, इसलिये उसके मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यग्दर्शन होता है; इसलिये मोक्षतत्त्व की प्रतीति करनेवाला सम्यग्दृष्टि है। सच्ची मोक्षतत्त्व की प्रतीति तो आत्मस्वभाव की सन्मुखता से ही होती है; आत्मस्वभाव की सनमुखता के बिना मोक्षादि तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

अरिहंतदेव की पहिचान कहो या मोक्षतत्त्व की प्रतीति कहो, वह पहिचान या प्रतीति करनेवाले को आत्मस्वभाव में अंतर्मुखता होकर सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये अरिहंत का स्वरूप बराबर जानना चाहिये।

प्रश्न—हमारा मस्तिष्क छोटा है, उसमें अरिहंत भगवान की इतनी बड़ी बात कैसे बैठ सकती है ?

उत्तर—अरे भाई, तेरा आत्मा छोटा नहीं है, किंतु अरिहंत भगवान जितनी ही सामर्थ्यवाला तेरा आत्मा बड़ा है; तेरे ज्ञान का दिमाग अर्थात् तेरे ज्ञान की शक्ति इतनी विशाल है कि वह अरिहंत भगवान को भी अपने में ज्ञेयरूप से संभाले! इसलिये अपनी ऐसी ज्ञान सामर्थ्य की प्रतीति करके अंतर्मुख हो—ऐसा करने से अरिहंत जैसा ही अपना आत्मा तुझे स्वानुभव से ज्ञात होगा। तुझसे हो सके ऐसा यह कार्य है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन सक्रिय है या निष्क्रिय ?

उत्तर—विकल्प करनेरूप क्रिया का उसमें अभाव होने से वह निष्क्रिय है और अपने स्वरूप की प्रतीति करनेरूप क्रिया उसमें होने से वह सक्रिय है।

प्रश्न—मोहमल्ल को शीघ्र जीतने का उपाय क्या है ?

उत्तर—जैसे अरिहंत परमात्मा हैं, वैसा ही परमार्थ से मेरा आत्मा है—ऐसी परमार्थदृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही मोह के नाश का मूल उपाय है।

प्रश्न—जिसे अपने आत्मा में मोह के नाश का ऐसा उपाय प्रगट हुआ हो, उसे क्या होता है ?

उत्तर—उसे ऐसी निःशंकता हो जाती है कि—मोह के नाश का उपाय मैंने प्राप्त कर लिया है, अब मैं अल्पकाल में ही मोह को निर्मूल कर दूँगा। मोहनाश का उपाय अर्थात् सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा के आनंद के वेदनसहित जीव को अंतर से ऐसी झंकार आ जाती है कि—बस, सिद्धपद का मार्ग हाथ आ गया... संसार का अंत अब निकट है... अनादिकालीन दुःख के समुद्र में से निकलकर अब मैंने सुख के समुद्र में प्रवेश किया है।

प्रश्न—अपने सम्यग्दर्शन की अपने को खबर पड़ जाती है ?

उत्तर—हाँ, अंतर में अतीन्द्रिय आनंद के आह्लादपूर्वक स्वसंवेदन से अपने को निःसन्देह अपने सम्यग्दर्शन की खबर हो जाती है।

विविध-संग्रह

[यहाँ कुछ विभिन्न विषयों पर चर्चा आदि का संग्रह दिया जा रहा है, जो जिज्ञासुओं को रुचेगा]

वीर की ललकार—

जो वीर पुरुष की भांति ललकारता हुआ मोक्ष की साधना के लिये निकला है, उसके भाव ढीले नहीं होते।

आत्मा के शोधक से...

हे आत्मा के शोधक! अंतर में इस ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करने के लिये अन्य सब कोलाहल (चिंता) छोड़कर निरंतर छह महीने तक प्रयत्न कर। निश्चलरूप से लगन लगाकर अंतर में तीव्र अभ्यास कर... तो तुझे अवश्य आत्मप्राप्ति होगी। जो आत्मा के पीछे पड़ जाये, उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता ही है।

समन्तभद्र-भारती

मात्र न और त अक्षरों द्वारा रचे गये निम्नोक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति में जो अक्षर हैं, वे ही अक्षर दूसरी पंक्ति में हैं; ऐसी रचनावाले श्लोक को 'चक्रश्लोक' कहा जाता है। इस श्लोक द्वारा श्री समन्तभद्र स्वामी ने भगवान विमलनाथ की स्तुति की:—

नेतानततनुते नेनोनितान्तं नाततो नुतात्।
नेता न ततनुते नेनो नितान्तं ना ततो नुतात्॥

उपरोक्त श्लोक का अर्थ इसप्रकार है:—

हे पापरहित विमलनाथ जिनेन्द्र! आप शरण में आये हुए संसारी प्राणियों को किसी प्रकार के क्लेश बिना शरीररहित दशा (सिद्धपद) प्राप्त करा देते हैं तथा आपको नमस्कार करने से प्राणी सबका स्वामी एवं नेता हो जाता है। इसलिये हे भव्यजनों! ऐसे इन विमलनाथ भगवान को तुम भी नमस्कार करो! *[समन्तभद्रस्वामी रचित स्तुति विद्या]*

'कति न कति न वारान्...'

धीर, वीर, दृढ़ ब्रह्मचारी श्री जम्बूकुमार जब दीक्षा लेने को तैयार हुए और उनकी माता शोक से विलाप करती हैं, तब जम्बूकुमार कहते हैं कि—हे माता! तू शीघ्र ही शोक छोड़ दे! इस

संसार की दशा ही क्षणभंगुर है, ऐसा तू चिंतन कर। हे माता! इस संसार में मैंने इन्द्रियसुखों का उपभोग तो अनेकों बार किया परंतु उससे तृप्ति नहीं मिली; ऐसे अतृप्तिकारी विषयों से अब बस होओ, अब तो हम अविनाशी चैतन्यपद को ही साधेंगे।

तथा हे माता! सुन—

कति न कति न वारान् भूपतिर्भूरिभूतिः।
कति न कति न वारानत्र जातोस्मि कीटः॥
नियतमिति न कस्याप्यस्ति सौख्यं न दुःखं।
जगति तरलरूपे किं मुदा किं शुचा वा॥

इस संसार में भटकते हुए मैं बारम्बार महान विभूति सहित राजा हुआ और बारम्बार कीट भी हुआ; इस तरंग समान संसार में किसी प्राणी को इन्द्रियसुख या दुःख सदैव एक-से नहीं रहते, इसलिये सुख में हर्ष क्या? और दुःख में शोक कैसा?—इसलिये हे माता! तू शोक को छोड़!

इसप्रकार वैराग्यमय अमृत वचनों द्वारा माता को संबोधित करके जम्बूकुमार वन की ओर चल दिये... और सौधर्म स्वामी के पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली... कुछ ही वर्षों में उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। धन्य है उनका वैराग्य! धन्य है उनका जीवन!

शास्त्राभ्यास का फल

(मोक्षमार्ग प्रकाशक : अध्याय ७ के प्रवचन से)

शास्त्र में जो अनेक प्रकार का उपदेश है, उसमें से मुझे क्या कार्यकारी है? मेरा हित किसप्रकार हो?—इसप्रकार विवेकपूर्वक अपने हित का उद्यम करना चाहिये। परंतु पहले से ही जिसकी ऐसी बुद्धि है कि मैं शास्त्र पढ़कर दूसरों को उपदेश दूँ, तो वह अपने हित के लिये नहीं पढ़ता किंतु उपदेशक होने के लिये शास्त्र पढ़ता है, उसकी प्रवृत्ति अयथार्थ है। परंतु शास्त्र का अभ्यास तो अपने हित के लिये करना है। जिसप्रकार आत्मा का हित हो, तद्नुसार शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये, परंतु आत्महित को चूककर मात्र शास्त्राभ्यास में लगा रहे, उसमें गहरे-गहरे मानादि के पोषण का अभिप्राय बना रहता है। ज्ञानी तो शक्ति अनुसार शास्त्राभ्यास करके तत्त्व का निर्णय करता है तथा ज्ञान की निर्मलता के हेतु शास्त्राभ्यास करता है, इसप्रकार तत्त्वनिर्णय द्वारा वह अपना हित साधता है। आत्मा का हित हो, ऐसे उद्यम की मुख्यता रखकर फिर विशेष शक्ति हो तो न्याय शास्त्रादि का भी अभ्यास करना चाहिये। यदि विशेष अभ्यास की शक्ति न हो तो सुगम

शास्त्रों के अभ्यास द्वारा अपने हित का प्रयत्न करना चाहिये। मात्र परोन्मुखता से शास्त्राभ्यास करे परंतु स्वोन्मुख होकर 'मैं ज्ञानस्वभावी हूँ'—ऐसा अनुभव न करे, तब तक सम्यग्ज्ञान नहीं होता। 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है—ऐसा शास्त्र में कहा है' वह तो जानता है; परंतु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसा अज्ञानी नहीं जानता; इसलिये उसको सच्चा तत्त्वश्रद्धान नहीं होता; शास्त्राभ्यास का सच्चा फल उसे नहीं है। यथार्थ तत्त्वश्रद्धा होकर आत्मा का अनुभव हो, वह शास्त्राभ्यास का सच्चा फल है।

आनंद का वेदन

'जो सदा दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त है, वह आत्मा है'—इसप्रकार श्रीगुरु ने 'आत्मा' समझाया कि शिष्य तुरंत ही अंतर्मुख लक्ष करके समझ गया। उसे समझने पर शिष्य के आत्मा में क्या हुआ ?—कि तुरंत ही अतीन्द्रिय आनंद के वेदनसहित सुंदर बोध तरंगें उसके अंतर में प्रगट हो गईं। सच्चा जिज्ञासु शिष्य तुरंत ही समझ जाता है... "प्रभो! 'आत्मा' कहकर आप क्या बतलाना चाहते हैं!" इसप्रकार शिष्य को अंतर से जिज्ञासा जागृत हुई और जिज्ञासु होकर टकटकी लगाकर उपयोग को आत्मा समझने की ओर एकाग्र किया। ऐसे तैयार शिष्य से यहाँ आचार्यदेव ने कहा कि—'ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्मा है'—वहाँ तुरन्त अंतर में उतरकर आनंदसहित ज्ञानतरंगों द्वारा वह शिष्य आत्मा को समझ गया; उसे आनंदमय ज्ञानतरंगसहित आत्मा की अनुभूति प्रगट हुई... देखो, ऐसी अनुभूति हो, तब आत्मा समझा कहा जाता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है! सूक्ष्म भेद के लक्ष में अटक रहा हो, तब तक भी आत्मा को समझा नहीं कहा जाता। 'आत्मा' समझते ही अंतर में अपूर्व आनंदसहित सुंदर-मनोहर ज्ञानतरंगें उछलने लगती हैं। आत्मा को समझ ले और अंतर में ऐसे आनंद का वेदन न हो—ऐसा नहीं हो सकता। (समयसार, गाथा ८ के प्रवचन से)

मुनिवरों की भाँति

अरे, चैतन्यानुभूति की कितनी महिमा है, उसका अनुभव करनेवाले धर्मात्मा की क्या स्थिति है—उसकी लोगों को खबर नहीं है। (अनुभवी के अनुभव में बारहों अंग का सार समा गया है।) अविरति सम्यग्दृष्टि के अंतर में भी भेदज्ञान के बल से प्रतिक्षण सिद्धपद की आराधना चल रही है। जिसप्रकार मुनिवर मोक्ष के साधक हैं, उसीप्रकार यह धर्मात्मा भी मोक्ष के साधक हैं।

धर्म का प्रारम्भ और उसकी आवश्यकता!

शास्त्रों में धर्म के विविध लक्षण मिलते हैं। कहीं पर वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है, तो कहीं पर सम्यग्दर्शन को, कहीं पर सम्यक्चारित्र को तथा अनेक शास्त्रों में अहिंसा को ही परम धर्म कहा है। इन परिभाषाओं को देखने से पता चलता है कि क्या धर्म की अनेक परिभाषायें हो सकती हैं? किंतु जब हम गहराई में जाकर इनके विषय में सोचते हैं तो पता चलता है कि इन परिभाषाओं में कोई मतभेद नहीं है।

वस्तु के सवभाव को धर्म कहा है, और आत्मा का स्वभाव ज्ञायक है, वही आत्मा का धर्म है। इसी ज्ञायकस्वभाव की सच्ची श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है तथा ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। जब निश्चयचारित्र होता है, तब व्यवहारचारित्र भी होता है। किंतु जहाँ-जहाँ व्यवहारचारित्र हो, वहाँ निश्चयचारित्र होने का कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार जब निश्चय सम्यग्दर्शन में आत्म-श्रद्धा होती है, वहाँ देव-शास्त्र-गुरु का भी सच्चा श्रद्धान होता ही है। इसीप्रकार जहाँ अहिंसा को धर्म बतलाया है, वहाँ अहिंसा की भी परिभाषा बतलाई है कि आत्मा में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है। क्योंकि राग-द्वेष आत्मा का विकार है, रोग है, और हिंसा है। तथा इस विकार का नाश आत्मा के स्वभाव की ओर झुकने और रुकने से होता है। इसप्रकार चारों परिभाषायें एक-दूसरे के बिल्कुल अविरुद्ध हैं।

अत: आत्मस्वभाव को समझने के साथ ही धर्म का प्रारम्भ होता है। अकषाय शक्ति के बल अनुसार कषाय कम होती जाती है, वैसे ही बाहर से भी भूमिका के अनुसार संयमादि का पालन होता जाता है। इस जीव का एकमात्र लक्ष्य आत्मस्वभाव में स्थिर होकर आत्मस्वतंत्रता की जननी मुक्ति को प्राप्त करने का रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव चाहे अव्रती हो या व्रती, उसका एकमात्र लक्ष्य पूर्ण वीतराग धर्म को ही प्राप्त करने का रहता है। वह जगत में रहता है, कुटुंब परिवार और परिग्रह से घिरा रहता है किंतु उसकी आत्मा में जगत परिवार या परिग्रह नहीं रहता है। वह इन सबको अपनी वस्तु या सुख-दु:ख का कारण नहीं मानता है। किंतु वह मानता है कि हमारी पुरुषार्थ हीनता से ही मैं दु:खी हो रहा हूँ। क्योंकि राग ही संसार है, राग ही दु:ख है। जैसे-जैसे उसका आत्म पुरुषार्थ बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ही राग घटता जाता है; और जैसे-जैसे राग घटता है, वैसे-वैसे ही सुख बढ़ता जाता है और इसी सुख का नाम धर्म है। क्योंकि धर्म का नामान्तर ही सुख है। धर्म

और सुख कोई अलग अलग वस्तु नहीं है। अत: जिन्हें सुखी बनना है, वे इस धर्म की शरण में आकर ही सत्य सुख को प्राप्त कर सकते हैं।

संसार में मिथ्या श्रद्धा ही दु:ख का कारण है। क्योंकि जो वस्तु जैसी नहीं है, उसको वैसा मानकर जीव दु:खी होता रहता है। तन, धन, परिवार आदि अत्यंत भिन्न वस्तुओं को मिथ्यादृष्टि जीव अपनी मानता रहता है, अत: जब इसकी इच्छा के अनुकूल लगते हैं, तब अपने को सुखी मान लेता है, और जब ये प्रतिकूल जाते हैं तो दु:खी हो जाता है।

इस मिथ्या श्रद्धा के साथ सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण चारित्र मिथ्या बना रहता है। अत: सर्वप्रथम जीव को वस्तुतत्त्व का निर्णय करके अपनी श्रद्धा को यथार्थ बनाना चाहिए। तभी धर्म या सुख का प्रारम्भ हो सकता है।

भोपाल में सिद्धचक्र विधान, मंदिरजी पर नूतन कलशारोहण समारोहपूर्वक सम्पन्न

भोपाल (मध्यप्रदेश) में श्री बिहारीलालजी कठनेरा द्वारा यह बड़ा धर्म प्रभावनामय विधान, अष्टाह्निका पर्व पर किया गया। तारीख ७-११-६५ को श्री शांतिनाथ मंदिरजी पर कलश विशेष चढ़ाया गया।

जैन समाज के विशेष आग्रह पर फतेपुर (गुजरात) से श्री बाबूभाई, सिद्धचक्र विधान में भाग लेने हेतु तारीख ३१ को यहाँ पधारे आपका हार्दिक स्वागत हुआ, इसी दिन सवेरे तथा रात्रि को मंदिरजी में आपने शास्त्र प्रवचन किया। निश्चय व्यवहारनय का यथार्थ सुमेल करते हुए वस्तुतत्त्व का अत्यंत सरल भाषा में प्रतिपादन करना आपकी विशेषता है। बड़े मंदिरजी में स्थान की कमी पड़ने से तारीख १-११-६५ से जैन विद्यालय में बड़े विशाल पंडाल आदि की व्यवस्था की गयी। प्रतिदिन दोनों समय प्रवचन उपरांत रात्रि को शंका समाधान भी होता था। आपके प्रवचन द्वारा निरंतर धर्मामृत की वर्षा होती रही, जिससे समाज ने विशेष धर्म लाभ प्राप्त किया। आपके शांत,

गंभीर, निश्चल व्यक्तित्व, आदर्श ब्रह्मचर्यमय संयमित जीवन तथा अनुभवपूर्ण वाणी का सभी समाज पर अत्यंत प्रभाव हुआ। अनेक जैनेतर धर्मप्रेमी बन्धु भी आपके प्रवचन में रुचिपूर्वक भाग लेते थे।

शाम को-रात्रि को श्री बाबूभाई द्वारा अगाध जिनेन्द्र भक्ति उसमें उनकी अपूर्व तन्मयता ने सभी को आश्चर्यचकित किया।

सिद्धचक्र विधान में ४-५ घंटा विधान पूजन होता था। श्री ब्रह्मचारी राजारामजी, ब्रह्मचारी हेमराजजी, श्री बाबूभाई, प्रतिष्ठाचार्य श्री मोतीलालजी, श्री पंडित धन्नालालजी आदि द्वारा विधान के महत्त्व और पूजन में कहे हुए शब्दों के अर्थ व भाव पर उत्तम प्रकाश डाला जाता था। मंदिर खचाखच भरा रहता था।

तारीख ९-११-६५ को विशाल रथयात्रा का जुलूस चौक मंदिर से रवाना होकर झिरनों मंदिर पहुँचा। वहाँ श्री बाबूभाई द्वारा शास्त्र प्रवचन पश्चात् श्री भगवान का कलशाभिषेक किया गया।

तीन बजे उक्त विशाल जुलूस वापिस रवाना हुआ। भोपाल के इतिहास में यह प्रभावना पूर्ण अवसर सदा अविस्मरणीय रहेगा। श्री जिनेन्द्र भगवान की भव्य मूर्ति को निरखकर श्री बाबूभाई का हृदय भगवद् भक्ति से झंकृत हो उठा।....बस क्या था... आपकी वाणी और शरीर से भक्तिरस की एक अपूर्व अजरधारा प्रवाहित हो उठी। उपस्थित सभी जन समुदाय भक्ति की इस विशाल धारा में विशेषतया निमग्न हुए बिना न रह सका। क्या बालक, क्या तरुण, क्या वृद्ध सभी का मन ही नहीं अपितु अंग प्रत्यंग आनंद विभोर होकर भक्ति के मधुर आवेश में झूम उठा। वस्तुतः जुलूस के इस रूप का वर्णन शब्दों में संभव नहीं है। जुलूस के बाद 'रंग लाग्यो महावीर थारो रंग लाग्यो' यह प्रियतम भजन की ध्वनि हृदय में गूंजती रही। रात्रि को श्री बाबूभाई के प्रवचन पश्चात् समस्त समाज द्वारा आपका अभिनन्दन किया गया। श्री डालचंद सर्राफ मंत्री श्री दिगम्बर जैन पंचायत भोपाल ने उक्त सम्मान पत्र पढ़कर सुनाया तथा समाज के विशेष प्रतिष्ठित, शांत उदार स्वभाव से विभूषित श्री बागमलजी द्वारा श्री बाबूभाई को उक्त पत्र समर्पित किया गया, उत्तर में श्री बाबूभाई ने अपनी लघुता प्रगट की।

डालचंद सर्राफ

श्री दिगम्बर जैन पंचायती कमेटी भोपाल

श्री मध्यप्रदेश दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल का

अधिवेशन

भोपाल मध्यप्रदेश तारीख ७-११-६५ को पवित्र जैनधर्म के अनुरूप यह प्रथम अधिवेशन उत्तम ढंग से सोत्साह सम्पन्न हुआ।

इसमें भाग लेने हेतु श्री नवनीतभाई जवेरी मुम्बई प्रमुख श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामण्डल पधारे थे। स्टेशन पर लगभग ५०० संख्या में समाज के प्रतिष्ठित महानुभाव आपके स्वागतार्थ आये, उन्होंने भावभीना स्वागत किया।

गणमान्य प्रतिनिधि

श्री बाबूलाल चुन्नीलाल मेहता, फतेहपुर गुजरात; श्री पंडित फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री, वाराणसी; श्री नेमीचंदजी पाटनी, जयपुर-आगरा; श्री प्रकाशचंदजी हितैषी, सम्पादक-सन्मति संदेश, दिल्ली; श्री धन्नालालजी लश्कर; श्री पंडित रतनचंदजी, विदिशा; श्रीमंत ऋषभकुमारजी, खुरई; श्री देवकुमारसिंहजी, इन्दौर; श्री प्रकाशचंदजी टोंग्या, इन्दौर; श्री नरेन्द्र पाटौदी, इन्दौर; सुमेरचंदजी, जबलपुर; श्री पन्नालालजी पाण्ड्या, श्री गटूलालजी गुना, श्री पण्डित सत्यन्धरकुमारजी सेठी, उज्जैन; श्री गुलाबचंदजी बड़जात्या तथा श्री नंदकिशोरजी एडवोकेट विदिशा; श्री कल्याणमलजी (आष्टा) जैन जाति भूषण शेठ श्री भगवानदासजी शोभारामजी सागर; जैन जाति भूषण शेठ श्री सोभालालजी सागर, विद्वानगण एवं समाज के प्रतिष्ठित महानुभाव तथा विभिन्न स्थानों से लगभग १०० प्रतिनिधि पधारे थे।

प्रतिनिधियों की बैठक में श्रद्धेय पण्डित श्री फूलचन्दजी ने अपने मार्मिक भाषण में कहा कि हमें जिनागम के स्वाध्याय में अधिक-अधिक रुचिपूर्वक समय देते हुये तत्त्व का चिन्तन-मनन करना चाहिये।

व्यर्थ के वाद-विवाद व खंडन-मंडन में अपने बहुमूल्य समय को नष्ट न करते हुए अपनी आत्म साधना के हेतु निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिये। समाज के सभी बंधुओं के प्रति विनय-प्रेमपूर्ण व्यवहार अत्यंत आवश्यक है।

श्री बाबूभाई ने बताया कि मुमुक्षु शब्द का भाव समझते हुए हमारे ऊपर विशेष उत्तरदायित्व

आता है, समस्त अशुद्धियों और अपूर्णताओं का अभाव कर अपनी पर्याय में परम वीतरागी शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति करने की अभिलाषा रखते हुए उस ओर प्रयत्नशील रहनेवाला व्यक्ति ही मुमुक्षु कहलाने का अधिकारी है, अतएव परम कल्याणमयी श्री जिनवाणी के मौलिक एवं गम्भीर सिद्धांतों का भाव हृदयंगम करते हुए अपने चैतन्य स्वरूप का परिज्ञान करना चाहिये। अपने आचरण की पवित्रता पर भी विशेष ध्यान आकर्षित करते हुए बताया कि हमारा तीव्र कषाययुक्त अनर्गल आचरण रहे और हमें आत्मस्वरूप का निर्णय हो जावे, ऐसा कभी नहीं होता।

श्री पाटनीजी तथा श्री पंडित प्रकाशजी हितैषी ने बताया कि यह संस्था कोई नया मार्ग चलाने के लिये नहीं बनी है किंतु सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों के स्वाध्याय के माध्यम से सच्चा ज्ञान और सन्मार्ग के प्रचार के उद्देश्य को लेकर स्थापित की गई है और वह दिगम्बर जैन समाज के एक अंगरूप ही है।

सत्य तो सत्य ही रहता है। श्री कानजीस्वामी ने दिगम्बर जैनधर्म को स्वीकार किया, उस समय वे अकेले ही रह गये थे, सभी पूर्व अनुयायिओं ने आपका साथ छोड़ दिया था, फिर भी आपने अविचलित भाव से दिगम्बर आगमों की स्वाध्याय द्वारा तत्त्व की साधना चालू रखी, फलस्वरूप न केवल दिगम्बर जैन समाज में वरन अन्य अनेक तत्त्वप्रेमी समाज में भी आज आपके प्रति कितनी श्रद्धा है, कितना बहुमान है, यह सबको स्पष्ट ही है। आपने भी कहा कि पूज्य कानजीस्वामी ने नया मार्ग नहीं चलाया है। वरन प्राचीन दिगम्बर जैनाचार्यों की वाणी को ही सरल व प्रभावशाली रूप में स्पष्ट किया है।

श्री सम्मेदशिखरजी के संबंध में गहरी चिंता

इस अवसर पर भी श्री नेमीचंदजी पाटनी ने श्री सम्मेदशिखरजी के संबंध में हुए इकतरफा समझौते के विरोध स्वरूप एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, इसके समर्थन व अनुमोदन में श्री पंडित फूलचन्दजी सिद्धांत शास्त्री तथा श्री बाबूभाई ने इस प्रकरण पर विशेष प्रकाश डालते हुए दिगम्बर समाज को एक सूत्र में संगठित करने की आवश्यकता निरूपित की, पश्चात् वह प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास किया गया।

खुला अधिवेशन तारीख ७-११-६५

चौक बाजार भोपाल में रात्रि को श्री नवनीतभाई झवेरी की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। प्रथम ब्रह्मचारी राजारामजी ने मंगलाचरण किया और इसके महत्त्व पर प्रकाश डाला। तत्पश्चात्

स्थानीय मुमुक्षु मंडल व दिगम्बर जैन समाज की ओर से तथा बाहर से आये हुए मंडलों के प्रतिनिधियों की ओर से श्री नवनीतभाई को फूलमालाऐं क्रमशः अर्पित की गयीं तथा समाज के विशेष प्रतिनिधि श्री राजमल जैन (फर्म चुन्नीलाल दौलतराम) द्वारा स्वागत भाषण हुआ, आपने इस महत्वपूर्ण भाषण में सर्व श्री नवनीतभाई तथा लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों-मेहमानों का हार्दिक स्वागत किया। मुमुक्षु मंउल के इतिहास पर प्रकाश डाला परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की तथा मुमुक्षु महामंडल द्वारा व्यापक पवित्र जैनधर्म का प्रचार वर्ष में दो बार धार्मिक शिक्षण वर्ग ××× आदि प्रशस्त कार्यों का वर्णन किया।

पश्चात् मध्यप्रदेश के योजना विकासमंत्री श्री मिश्रीलालजी गंगवाल ने अपने उद्घाटन भाषण में अनेक उपयोगी बातों पर प्रकाश डालते हुये बताया कि 'मुमुक्षु मंडल की शक्ति और सफलता उसकी गणना में नहीं है किंतु गुणों में है, और भी अनेक उपयोगी बातें कहीं। अंत में कहा कि पूज्य स्वामीजी द्वारा जो तत्त्व प्रकाश में आया है, वह भेदविज्ञान प्राणीमात्र को वास्तविक शाश्वत सुख का पथ खोल देता है।

श्री नेमीचंदजी पाटनी ने मंडल के कार्यों और उद्देश्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला, बताया कि मात्र मोक्ष की अभिलाषा से तत्त्व के स्वरूप को समझकर उसकी प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना ही एकमात्र इस संस्था का उद्देश्य है।

धर्म संबंधी उदासीनता के भाव को हटाकर, समाज में जैनत्व के मूल संस्कारों की प्रतिष्ठा करना, तत्त्व परिज्ञान जागृत करना हमारा कर्तव्य है×××

आदरणीय श्री पंडित फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री ने महत्त्वपूर्ण विचारों को अवगत कराया। अंत में अध्यक्ष पद से अपना महत्वपूर्ण भाषण करते हुए श्री नवनीतभाई ने कहा कि यह संस्था दिगम्बर जैन समाज से अलग नहीं है किंतु समाज का ही अंग है।

प्रत्येक दिगम्बर जैन जो आत्म कल्याण का जिज्ञासु है, इस संस्था का स्वभावतः सदस्य है। इसीलिये इसकीा कोई सदस्यता शुल्क अथवा इसकी कोई सीमा नहीं रखी गई है। अन्य अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर उपयोगी विचार व्यक्त करते हुए आपने समाज से आग्रह किया कि समाज इस संस्था को अपनी ही समझे और इसे अपना अमूल्य सहयोग व मार्गदर्शन देकर स्व-पर कल्याण की अपूर्व साधना में तत्पर होवें। अन्त में आपने भोपाल दिगम्बर जैन समाज व मुमुक्षु

मंडल को इस अधिवेशन के आयोजन हेतु धन्यवाद दिया।

श्री नवनीतभाई जवेरी के सरल शांत व गंभीर व्यक्तित्व की समस्त समाज द्वारा विशेष रूप से सराहना की गई। भोपाल के इतिहास में यह सभी अभूतपूर्व थी। इसकी विशाल उपस्थिति को देखकर जैनेतर समाज के प्रमुख व्यक्तियों तक ने कहा कि ऐसी सार्वजनिक—विशाल सभा भोपाल के इतिहास में अभी तक नहीं हुई थी।

तारीख ८-११-६५ सवेरे बाहर से पधारे हुए तथा स्थानीय कार्यकर्ताओं की बैठक में पंडित श्री फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री ने - महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान किया। आपने बताया कि हमारा उद्देश्य विचार और आचार की शुद्धि के साथ-साथ सर्वज्ञ-वीतराग कथित तत्त्व प्रचार करने का है।

हमें अपने जीवन निर्वाण पर विशेष ध्यान देना है। समाज के संगठन को बनाये रखना है और धर्म प्रचार के कार्य को केवल शब्दों द्वारा ही नहीं किंतु अपने स्वयं के आचरण द्वारा करना है, वैचारिक मतभेद होने पर भी हमारा परस्पर व्यवहार अत्यंत विनम्र एवं प्रेमपूर्ण होना चाहिये।

श्री नवनीतभाई झवेरी ने इस अवसर पर कहा कि पूज्य श्री कानजीस्वामी ने कोई नया सिद्धांत नहीं चलाया है। गत २००-२५० वर्षों से जो स्वाध्याय की परम्परा लुप्त प्राय: हो रही थी, आपने उसी को पुन: जागृत किया है। आपने आगे कहा कि हमारे ऊपर विशेष उत्तरदायित्व है। अथवा कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिये जिससे मुमुक्षु मंडल पर किसी प्रकार का आक्षेप आवे। सत्साहित्य के प्रसार पर विशेष रूप से जोर देते हुये आपने कहा कि वर्तमान में जो मुमुक्षु मंडल का विरोध चल रहा है, उससे हमें उत्तेजित नहीं होना चाहिये, अपने पवित्र उद्देश्य, सदाचारमय जीवन एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार उक्त विरोध का समाधान अपने आप ही हो जायेगा।

दिनांक ८-११-६५ दिन में २ बजे

बाहर से आये हुये प्रतिनिधियों एवं स्थानीय कार्यकर्ताओं की बैठक हुई जिसमें सर्व प्रथम श्री पंडित फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री, बनारस ने कहा कि विधान उप समिति के विचार-विमर्श पर एक संक्षिप्त नियमावली-बनाने का निर्णय किया गया तदनुसार ही यह नियमावली बनाई गई है। इसी दृष्टि से आप इस पर विचार कर इसे स्वीकृत करें। तत्पश्चात-नियमावली प्रस्तुत की गई, जिसमें कुछ सुधार संशोधन के पश्चात् उसे सर्वसम्मति से स्वीकृत की गई।

तत्पश्चात् निम्न प्रकार पदाधिकारियों का सर्व सम्मति से चुनाव किया गया।

(१) श्री सेठ भगवानदासजी सागर (भगवानदास शोभालाल सागर) अध्यक्ष

(२) श्री डालचंदजी सर्राफ, भोपाल, मंत्री

(३) श्री राजमलजी गोहिल, क्लोथ मर्चेन्ट भोपाल, कोषाध्यक्ष

रात्रि को खुले अधिवेशनर में श्री नवनीतभाई सी. झवेरी को-अभिनंदन पत्र समर्पित किया गया।

एक खास प्रस्ताव

पवित्र तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर के संबंध में बिहार सरकार और श्वेताम्बर समाज के मध्य में एक पक्षीय-अनुचित समझौते से दिगम्बर जैन समाज की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुँचा है और हमारे धार्मिक अधिकारों का हनन हुआ है। अत: मध्यप्रदेश दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की यह आम सभा बिहार सरकार से उक्त समझौते के प्रति विरोध व्यक्त करती हुई, दृढ़तापूर्वक मांग करती है कि उक्त समझौता अविलम्ब रद्द किया जावे।

मंत्री—

डालचंद सर्राफ भोपाल (मध्य प्रदेश)

सुवर्णपुरी समाचार

सोनगढ़ तारीख ४-१२-६५ परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख शांति से विराजमान हैं, प्रवचन में परमात्मप्रकाश तथा समयसार कलश टीका चलते हैं।

उद्‌बोधन

हे आत्मा, अब बस!! नर्क के अनंत दु:ख जिन्हें सुनकर हृदय काँप उठता है, ऐसे दु:ख तूने अनंतानंत बार सहन किये, परंतु अपनी सच्ची प्रतीति अनंत काल में कभी नहीं की। इस उत्तम मनुष्य जीवन में अनंत काल के अनंत दु:ख टालने का समय आया है और इस समय यदि तू अपने को (अपने स्वरूप को) जानने का सच्चा उपाय नहीं करेगा तो फिर अनंत काल तक चौरासी में परिभ्रमण करना पड़ेगा.... इसलिये जागृत हो! आत्मा को पहिचाने बिना उद्धार नहीं है। वस्तु को जाने बिना कहाँ जायेगा? तेरे सुख-शांति तेरी ही वस्तु में से आयेंगे या बाहर से? तू चाहे जिस क्षेत्र में जा, परंतु तू तो अपने में रहेगा! तेरा सुख स्वर्ग में से नहीं आयेगा, तू अपने से किसी काल या किसी क्षेत्र में पृथक् होनेवाला नहीं है। मात्र अपनी प्रतीति के अभाव में ही तू दु:खी हो रहा है। वह दु:ख दूर करने के लिये तीनों काल के ज्ञानी एक ही उपाय बतलाते हैं कि:—

'आत्मा को पहिचानो!'

हे जीवो! तुम जागो! मनुष्यत्व अति दुर्लभ है। अज्ञान में रहकर सद्‌विवेक प्राप्त करना अशक्य है। सारा लोक (संसार) मात्र दु:ख से सुलगता रहता है और अपने-अपने कर्मों द्वारा इधर-उधर भटकता रहता है; ऐसे संसार से मुक्त होने को हे जीवो! तुम सत्वर आत्मप्रतीति सहित जागृत होओ! जागृत होओ!!

हे जीव! हे आत्मा! अब कब तक मिथ्या मान्यता रखना है? मिथ्या मान्यता में रहकर अनादि से अज्ञान के मोहजाल में फँसा हुआ है, अब तो जाग! एक बार तो मिथ्या मान्यता से छूटकर अज्ञान के मोहजाल को हटाकर अपने मूल स्वरूप को देख!

सच्चा सुख कैसे प्रगट होता है? सच्चा सुख आत्मा में ही है, बाह्य में कहीं सच्चा सुख नहीं है। आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है। जब सम्यग्दर्शन द्वारा अपने स्वरूप को बराबर जाने, तभी सच्चा सुख प्राप्त होता है। उसके लिये सबसे पहले सत्पुरुष के चरणों में अर्पित हो जाना चाहिये और रुचिपूर्वक निरंतर सत् का श्रवण-मनन करना चाहिये।

दु:ख से छूटकर सुख प्राप्त करने का उपाय प्रत्येक आत्मा करता है; परंतु अपने सत्यस्वरूप की प्रतीति बिना, सच्चा उपाय करने के बदले मिथ्या उपाय कर-करके अनादि से अज्ञान के कारण दु:ख को ही भोगता है। उस दु:ख से छूटने के लिये तीनों काल के ज्ञानी एक ही उपाय बतलाते हैं कि आत्मा को पहिचानो!

नया प्रकाशन

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह यानी पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरसः ठीक रूप से सांगोपांग अनुवाद श्री हिम्मतलाल जे. शाह बी.एससी. द्वारा प्रथम बार ही हुआ है, जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र कृत संस्कृत टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, यह ग्रंथ दूसरी बार बड़े टाइप में सर्व प्रकार सुंदर संशोधित व संस्कृत टीका सहित छपा है, टीका के कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज, सुंदर छपाई और रेगजीन कपड़े की सुंदर जिल्द सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ३-५० है। पोस्टेजादि अलग पृष्ठ संख्या ३१५ (कमीशन किसी को नहीं मिलेगा।)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य सुगम और उत्तम साहित्य है।]

पता — श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

(श्री प्रवचनसार शास्त्र-दूसरी आवृत्ति)

यह शास्त्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पवित्र अध्यात्मसाररूप महान ज्ञान निधि है। जिसमें सातिशय निर्मल ज्ञान के धारक महामहर्षि श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञानदर्शन (ज्ञेय) और चारित्र अधिकार में स्वानुभव गर्भित युक्ति के बल द्वारा सुनिश्चित द्रव्य-गुण-पर्यायों का विज्ञान, सर्वज्ञ स्वभाव की यथार्थता, स्व-पर ज्ञेयों की स्वतंत्रता, विभाव (अशुद्धभाव) की विपरीतता बताकर अंत में ४७ नयों का वर्णन भी संस्कृत टीका द्वारा ऐसे सुंदर ढंग से किया है कि सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा सहित विनय से स्वाध्यायकर्ता अपने को धन्य माने बिना नहीं रह सकते।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समस्त जिनागम के साररूप रहस्य को खोलकर धर्म जिज्ञासुओं के प्रति परमोपकार किया है। उसी टीका का प्रामाणिक अनुवाद, बड़े टाइप में उत्तम छपाई, बढ़िया कागज, रेगजिन कपड़े वाली बढ़िया जिल्द, प्रत्येक गाथा लाल स्याही में छपी है। सभी जिज्ञासु यथार्थ लाभ लें ऐसी भावनावश मूल्य लागत से भी बहुत कम, मात्र ४) रुपया रखा गया है। पृष्ठ ४७०, पोस्टेज २-१०) पैसे, (किसी को कमीशन नहीं है)

(यह शास्त्र बंबई, दिल्ली, सहारनपुर, बड़ौत, उदयपुर, जयपुर, सागर, भोपाल, उज्जैन, इंदौर, विदिशा, गुना, अशोकनगर, ललितपुर, जबलपुर, खंडवा, सनावद, दाहोद, अहमदाबाद, आदि में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा भी प्राप्त हो सकेगा।)

नया प्रकाशन

मुक्ति का मार्ग

विद्वत्वर्य श्री भागचंदजी छाजड़ कृत सत्तास्वरूप नामक ग्रन्थ में सर्वज्ञ की सिद्धि प्रयोजनभूत रकम सच्चे देवादि की पहिचान द्वारा गृहीत मिथ्यात्व का त्याग और हितरूप मोक्ष के उपाय के योग्य जैनीपना क्या है उसका रोचक वर्णन है। उस पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने २१ वर्ष पूर्व भाद्र पद मास में प्रवचन किये थे जिसकी चार आवृत्ति छप चुकी हैं। यह संशोधित पाँचवीं आवृत्ति सबको विशेष पसंद आवेगी। अत: सर्वत्र प्रचार में लाने योग्य है। पक्की जिल्द, पृष्ठ संख्या ११६, मूल्य ०-२५। पोस्टेज - ०-१४।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मोक्षमार्गप्रकाशक—

मूलग्रंथ आचार्यकल्प श्री पंडित टोडरमलजी की हस्तलिखित प्रति से अति सावधानी पूर्वक आधुनिक हिन्दी में भाषा परिवर्तन हो चुका है। इस महत्वपूर्ण पुस्तक में पंडितजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी तथा श्री पंडित बनारसीदासजी कृत परमार्थ वचनिका, निमित्त उपादान चिट्ठी भी छपाने का निर्णय हुआ है। प्रेस में दे दिया है। प्रथम से ही ५६०० पुस्तक की माँग आ चुकी है। अत: बड़ी साईज में पुस्तक ११००० (ग्यारह हजार) छपेगी। मूल्य ४-००) होता है किंतु प्रथम से ग्राहक होने पर बहुत सस्ते में ग्रंथ मिलेगा।

नियमसारजी परमागम शास्त्र छप रहा है।

अनुभवप्रकाश ग्रंथ श्री दीपचंदजी साधर्मी कृत, छप रहा है।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जनवरी : १९६६ ☆ वर्ष २१वाँ, पौष, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ९

धर्मात्मा के प्रति प्रमोद

★

जिसे चैतन्य की सिद्धि करने का उत्साह होता है, उसे चैतन्य के साधक अन्य धर्मात्मा को देखते ही उत्साह और प्रेम उमड़ता है। अहा! वह धर्मात्मा चैतन्य की किसप्रकार सिद्धि कर रहा है! ऐसा प्रमोद होता है, और मैं भी इसी प्रकार चैतन्य की सिद्धि करूँ – ऐसी आराधना का उत्साह उसे उत्पन्न होता है। चैतन्य की सिद्धि में हेतुभूत ऐसे संत-गुरुओं को भी वह आत्मार्थी जीव सब प्रकार की सेवा से राजा की भाँति प्रसन्न करता है—रिझाता है। और संत-गुरु उसके ऊपर प्रसन्न होकर उसे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति की विधि दर्शाते हैं।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२४९]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विषय सूची

विषय

१. ज्ञानी निष्परिग्रही है

२. भेदज्ञान की महिमारूप अपूर्व मंगल

३. स्वज्ञेयरूप आत्मा का वर्णन

४. हमारा भारत देश

५. अहो आत्मा का सर्वज्ञ स्वभाव

६. तीर्थ महिमा

७. वैराग्य वाणी

८. जन्मधाम उमराला ग्राम में स्वामीजी का प्रवचन

९. सोनगढ़ साहित्य आगमानुकूल है
(२१ उद्धरणों की वास्तविकता)

१०. निश्चय और व्यवहार

११. समाचार संग्रह

★★

प्रथम कार्य

इतना काम हो जाये तो फिर आत्मा का करेंगे; इस समय यह कार्य है और वह कार्य है—ऐसा बहाना जीव निकालता ही रहता है; परंतु ऐसा कोई दिन आयेगा जब जिंदगी में कोई कार्य नहीं होगा? वाट देखकर बैठ रहने से तो कभी निवृत्ति मिल ही नहीं सकती, और जीवन के महँगे से महँगे दिन यों ही बीत जाते हैं... बाढ़ के पानी की भाँति। इसलिये—

'सर्व प्रथम आत्मा... और दूसरा सब बाद में।'

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जनवरी : १९६६ ☆ वर्ष २१वाँ, पौष, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ९

ज्ञानी निष्परिग्रही हैं

(भेदज्ञान के बिना परिग्रह छूटता ही नहीं)

[समयसार निर्जरा-अधिकार के प्रवचन से]

स्व-पर के यथार्थ भेदज्ञान द्वारा जिन्होंने ज्ञान का अनुभव किया है—ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा ने अपने ज्ञानमय भाव में से समस्त परिग्रह को छोड़ा है। ज्ञान के ही स्वामित्वरूप से परिणमित ज्ञानी अन्य समस्त परिग्रह को किंचित ग्रहण नहीं करते। परद्रव्य का छेदन हो या भेदन हो, अथवा उसे कोई ले जाये या नष्ट हो जाये अथवा चाहे जिसप्रकार चला जाये, तथापि मैं परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करूँगा क्योंकि मैं तो ज्ञानमय ही हूँ। ज्ञान से भिन्न कोई परद्रव्य मेरा स्व नहीं है, मैं परद्रव्य का स्वामी नहीं हूँ—ऐसा ज्ञानी जानते हैं; इसलिये ज्ञान के ही स्वामित्वरूप से परिणमित होते हुए वे अन्य किसी भी परिग्रह को किंचित् ग्रहण नहीं करते।

आहार ले रहे हों, उस ओर की इच्छा हो, तथापि ज्ञानी अनिच्छक ही है; क्योंकि उस इच्छाकाल में भी ज्ञानी को उस इच्छा के साथ ज्ञान की एकतारूप परिणमन नहीं होता परंतु इच्छा से भिन्न ज्ञानरूप परिणमन ही होता है; इसलिये ज्ञानी को तो ज्ञानमय भावपना ही है; वे इच्छामय नहीं है, इसलिये अनिच्छक ही हैं। इच्छा या बाह्यवस्तु का परिग्रह ज्ञान को नहीं है; यह इच्छा मेरे ज्ञान के साथ एकमेक है, ऐसी पकड़-परिग्रह ज्ञानी के नहीं है।

ज्ञान के अतिरिक्त जगत के किसी विषय की या विकल्प की पकड़ धर्मात्मा-ज्ञानी को नहीं है। यथार्थ भेदज्ञान के बिना परिग्रह की पकड़ अभी छूटती ही नहीं। जहाँ यथार्थ भेदज्ञान हुआ,

वहाँ ज्ञानी की दृष्टि में से सर्व परिग्रह की पकड़ छूट गई। जो एक शुभ विकल्प का भी स्वामी होकर परिणमित होता है, वह विकल्प को किंचित् लाभरूप मानता है; उस जीव की मिथ्याबुद्धि में तीन काल-तीन लोक के परिग्रह की पकड़ है। ज्ञानी-धर्मात्मा जानते हैं कि—अरे, हम तो चैतन्य आहारी-चैतन्य विहारी हैं; हमारे चैतन्यभाव में विकल्प का उपभोग भी नहीं है तो फिर बाह्य वस्तु की तो बात ही कहाँ रही ?

कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महान समर्थ संत-मुनि कभी आहार के लिये जा रहे हों, तथापि उससमय भी उनका आत्मा आहार का अनिच्छक ही है। उस काल आहार की इच्छा से पृथक् उसका आत्मा ज्ञानमयभावरूप परिणमित होता है। अविरत सम्यक्त्वी को भी ऐसा ही होता है।

अहा! संत मुनि धर्मात्मा, मोक्ष के साधक, उपशांत वन में मुनिवरों के समूह में विराजमान हों; जिनकी शांत मुद्रा वचन दान के बिना (मौनरूप से) ही मोक्षमार्ग दर्शा रही हों!—ऐसे मुनि के पास जाकर विनयपूर्वक कोई निकट भव्य जीव मोक्ष का उपाय पूछता है और आचार्यदेव उसे 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' कहकर मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं। इसका सुंदर वर्णन पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिका में किया है। वाह! मुनि तो मोक्ष का स्थान हैं... वे स्वयं मोक्षमार्ग हैं। ध्यान में लीन वे मुनिवर बिना बोले भी स्वयं ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग हैं; उस मूर्तिमान मोक्षमार्ग को देखने से तथा पहिचानने से पात्र जीव को प्रतीति हो जाती है कि—वाह! मोक्षमार्ग ऐसा होता है!—इसप्रकार मुनिराज बिना बोले मोक्षमार्ग का प्रदर्शन कर रहे हैं.. निर्ग्रंथ महात्माओं की मुद्रा मोक्षमार्ग की सम्यक् प्रतीति कराती है।

अहा, ऐसे मुनिवर चैतन्यरस में झूलते हैं; स्वरूप के अनुभव में से बाहर आने पर आहार की वृत्ति उठती है, उसे भी वे निश्चय प्रत्याख्यान का भंग समझते हैं—अपराध मानते हैं; क्योंकि मुनिदशा के समय स्वरूप में लीन होने की भावना थी, चऊविधि आहार का प्रत्याख्यान था, उसके बदले आहारादि की वृत्ति उठी, उतना प्रत्याख्यान का भंग हुआ; इसलिये समाधिमरण के समय मुनि उसका उत्तमार्थ प्रतिक्रमण करके स्वरूप में स्थित होना चाहते हैं। इस सम्बन्धी सुंदर वर्णन श्री जयधवला के प्रथम भाग में है।

अहा, मुनिदशा क्या है, अरे, सम्यक्त्वी गृहस्थ की दशा क्या है, उसकी भी लोगों को खबर नहीं है। उसका पूरा परिणमन पलट गया है। बाहर से तो गृहस्थ या मुनि आहारादि क्रिया में प्रवर्तमान दिखायी देते हैं, तत्संबंधी इच्छा करते दिखायी देते हैं, परंतु अंतर में उस आहार की क्रिया

से तथा इच्छा की क्रिया से भी भिन्न ज्ञान का प्रवाह चल रहा है। वह ज्ञानधारा अज्ञानी को दिखायी नहीं देती। ज्ञानधारा में विकल्पमात्र का ग्रहण नहीं है। विकल्प से पृथक् हुई ज्ञानधारा मोक्ष की ओर चली जाती है। विकल्प आये उसे भिन्न जानकर ज्ञानी उसकी निर्जरा करता जाता है। इसलिये वह विकल्प का ज्ञायक ही है।

धर्मात्मा जीव ने आत्मा के निर्विकल्प चैतन्यरस का स्वाद चखा है; उस रस की मिठास के समक्ष सर्व परभावों की मिठास छूट गई है; इसलिये वह किसी भी परभाव की इच्छा नहीं करता, तथा बाह्य में भोजनपान आदि किसी भी परद्रव्य में एकत्वबुद्धि की इच्छा उसे नहीं है।

समस्त शुभाशुभभावों से तथा संयोगों से भिन्न अपने ज्ञानानंद भाव को जानते हुए धर्मात्मा अपने चैतन्य से भिन्न समस्त परभावों के प्रति अवलंबन रहित है; मुझे अपने चैतन्य का ही अवलंबन है, इसके अतिरिक्त जगत में किसी का अवलंबन मुझे नहीं है।—इसप्रकार मात्र ज्ञायकभाव के ही अवलंबन से धर्मात्मा ज्ञानभावरूप ही परिणमित होता है, इसलिये वह ज्ञायक ही है, वह रागी-द्वेषी नहीं है। राग-द्वेष की वृत्ति हो, उसके अवलंबन की बुद्धि नहीं है, उसे स्वभाव से भिन्न जानकर उसका अवलंबन छोड़ता है। इसप्रकार धर्मात्मा को अत्यंत निष्परिग्रहता है।

आत्मा पवित्र आनंद का धाम है। ऐसे निजनिधान की धर्मी को प्रतीति है। उस चैतन्य निधान की भावना में लीन धर्मात्मा को पूर्वकर्म का उदय हो, तथापि उस उदयकाल में उसे राग का वियोग होने से वह पूर्वकर्म खिर ही जाते हैं। स्वभाव के साथ संबंध तथा राग का वियोग हुआ है, इसलिये राग के अभाव में पूर्वकर्मों की भी निर्जरा हो जाती है।

संयोग में अनुकूलता हो या प्रतिकूलता, परंतु धर्मी को उस संयोग का ग्रहण नहीं है। प्रतिकूलता के समय भी उसका ज्ञान घिर नहीं जाता-वह पृथक् ही रहता है। इसलिये उस काल में भी उसे निर्जरा ही होती रहती है। उसने संपूर्ण चैतन्यपिण्ड को पृथक् कर दिया है, उस चैतन्यपिण्ड में वह परभाव या कर्म को किंचित् प्रविष्ट नहीं होने देता। अनुकूलता के समूह हों, तथापि ज्ञानी उनमें लिप्त नहीं होते, वे ज्ञान को पृथक् ही रखते हैं। ऐसी ज्ञानदशा अज्ञानियों के ख्याल में नहीं आती। संयोग से तथा राग-द्वेष से भिन्न ज्ञान उन्हें दृष्टिगोचर ही नहीं होता। अरे भाई! ज्ञान समस्त राग-द्वेष से पृथक् हुआ और उसने जगत के त्रिकाल संबंधी परिग्रह की पकड़ छोड़ दी, उस ज्ञान की महत्ता ही अचिंत्य है। अज्ञानियों को उसकी खबर नहीं है। ज्ञानी ने स्वभाव के अवलंबन द्वारा अपने आत्मा को राग से दूर हटा लिया है, अब वह राग की किंचित् वांछा नहीं

करता; जहाँ राग की वांछा नहीं है, वहाँ बाह्य परिग्रह की वांछा क्यों करेगा ? इसलिये ज्ञानी समस्त परिग्रह से रहित है। वर्तमान स्वोन्मुख परिणमित ज्ञान में त्रैकालिक परिग्रह का अभाव है और जिसे राग में एकत्वबुद्धि है, ऐसे अज्ञानी को त्रिकाल परिग्रह का ग्रहण है.. जो राग के एक कण की इच्छा करता है, वह त्रिकाल के समस्त परिग्रह को ग्रहण करना चाहता है।—इसप्रकार भेदज्ञान के बिना परिग्रह छूटता ही नहीं। भेदज्ञानी जीव चक्रवर्ती के वैभव में भी निष्परिग्रही है। अहो, ज्ञानी की परिणति सहज वैराग्यरूप है, उनके ज्ञान-वैराग्य की अचिंत्य शक्ति है; उसके कारण किन्हीं भी संयोगों में वे लिप्त नहीं होते।

भेदज्ञान की महिमारूप अपूर्व मंगल

[संवर अधिकार के प्रवचनों से]

यह ज्ञान और राग के भेदज्ञानरूप संवर की अपूर्व बात है।

अंतर में आत्मार्थीपना उगे बिना चैतन्य का पता नहीं चलता। भाई, तेरी चैतन्यसत्ता राग में नहीं ढँक गई है, वह तो राग से भिन्न ही भिन्न है। अज्ञान से तुझे चैतन्य और राग की एकता भासित हुई थी, परंतु भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा दोनों की अत्यंत भिन्नता का अनुभव होता है। ज्ञान और राग की भिन्नता के तीव्र अभ्यास द्वारा भेदज्ञान हो, तब जीव को ऐसा अनुभव होता है कि यह जो ज्ञान है, वही मैं हूँ तथा जो राग है, वह तो जड़ का भाव है, उस राग का मेरे चैतन्य के साथ किंचित् आधार-आधेयपना नहीं है। ज्ञान की ओर का भाव तो अनाकुल शांत है और राग तो आकुलता-क्लेशरूप है। ऐसा भेदज्ञान ही संवर का उत्कृष्ट उपाय है। इसलिये आचार्यदेव प्रारम्भ में ही ऐसे भेदज्ञान की प्रशंसा करके उसका अभिनंदन करते हैं। (अभिनंदति)।

अहो, भेदज्ञान हो, तब ज्ञान से भिन्न समस्त परभाव आकुलतारूप भासित होते हैं; भेदज्ञान होने पर आत्मा ज्ञानभावरूप ही अनुभव में आता है, राग का अणुमात्र भी अपने रूप अनुभव में नहीं आता; अचल ज्ञानरूप ही रहता है। और ज्ञान शुद्धज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित् रागादिभाव को

नहीं करता। ऐसा भेदज्ञान होते ही आत्मा परम आनंदित होता है। जो कभी नहीं हुआ, ऐसा ज्ञान का अपूर्व वेदन होने से वह आनंदित होता है। उसे लगता है कि अहो! मैं तो सदैव ऐसे ज्ञानस्वरूप ही रहा हूँ, रागादिरूप मैं कभी नहीं हुआ। आनंद में झूलते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे सत्पुरुषों! ऐसा भेदज्ञान करके अब तुम मुदित होओ!... भेदज्ञान द्वारा आनंदित होओ!

जीव ने भेदज्ञान किया, वहाँ उसे 'संत' कहा है। हे संतो! अब तुम मुदित होओ! प्रसन्न होओ! आनंदित होओ! चैतन्य का अनुभव करके संतों ने अंतर में अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव किया है। ऐसे भेदज्ञान की प्रशंसा द्वारा आचार्यदेव ने उनका अभिनंदन किया है... और वह अपूर्व मंगल है। आत्मा में ऐसा भेदज्ञान प्रगट हो, वह अपूर्व मंगल है।

जो भेदज्ञान प्रगट हुआ, वह अपने ज्ञानभाव में अविचलरूप से रहता है; ज्ञान से किंचित् चलायमान नहीं होता—रागादिरूप नहीं होता। साधु या श्रावक होने से पूर्व जो अविरत सम्यग्दृष्टि हुआ, उसकी यह बात है; उसे ऐसा भेदज्ञान होता है। ऐसा भेदज्ञान वह संवर का परम उपाय है। भेदज्ञान हुआ, वहाँ शुद्ध आत्मा को उपलब्ध किया, और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि द्वारा रागादि के अभावरूप संवर हुआ। इसप्रकार ज्ञानी को संवर है।

जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि हे स्वामी! आपने ऐसा समझाया कि भेदज्ञान से ही शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है; तो उस शुद्ध आत्मा की उपलब्धि भेदज्ञान द्वारा ही होती है और अन्य प्रकार से नहीं होती—सो कैसे? भेदज्ञान द्वारा ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि किस प्रकार होती है?—ऐसा शुद्ध आत्मा के अनुभव की उत्कंठा रखनेवाले शिष्य का प्रश्न है। उसे समझाने के लिये आचार्यदेव (गाथा १८४-१८५ में) कहते हैं कि—

ऊपर कहे अनुसार ज्ञान और राग का भेदज्ञान जिसे हुआ है, ऐसा भेदज्ञानी ही उस भेदज्ञान द्वारा ऐसा जानता है कि—चाहे जैसे प्रचंड कर्मोदय द्वारा घिरा होने पर भी मेरा ज्ञान ज्ञानपने को कदापि नहीं छोड़ता। मेरा ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है। पांडवों जैसे धर्मात्मा जब ध्यान में लीन थे, तब उनके पूर्वभव का शत्रु उन्हें अंगारों से धधकते हुए लोहे के गहने पहिनाता है... शरीर सुलग उठता है.. उस समय भी अंतर में प्रतीति है कि हमारा ज्ञान तो ज्ञानरूप ही बना हुआ है, वह ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थदशा में हो, तथापि चाहे जैसे परिषह या उपसर्ग में उन्हें अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं छूटती, वे नि:शंक जानते हैं कि मेरा आत्मा ज्ञानरूप ही है। हजारों कारण एकत्रित हों, तथापि मेरे आत्मा को ज्ञानस्वभाव से छुड़ाने में अशक्त हैं। जिसप्रकार

चाहे जैसी अग्नि में तप्त होने पर भी सोना तो सोना ही रहता है, वह अपने सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता; उसीप्रकार ज्ञानी चाहे जैसी प्रतिकूलता के घेरे में भी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता। हजारों कारण या दुनियां के अनंत कारण एकत्रित होने पर भी, अनंत प्रतिकूलता होने पर भी, बिजली गिरने अथवा वज्रपात होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है, इसलिये ज्ञानी अपने ज्ञानभाव को कभी नहीं छोड़ता। ज्ञानी का स्वभाव ही ज्ञानमय परिणमित होने का है; उसे उसके ज्ञानमय परिणमन से छुड़ाने में जगत में कोई समर्थ नहीं है।

राजुल, सीताजी आदि धर्मात्मा सती-साध्वी चाहे जैसे कठिन प्रसंग आने पर भी अपने ज्ञानस्वभाव में निःशंक रूप से ज्ञानरूप वर्तती थीं। ज्ञान अंशमात्र रागरूप नहीं हो जाता।

ज्ञानी सम्यक्त्वी को प्रतिकूलता के समूह आ जाने पर भी उनका ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव में ही एकतारूप वर्तता है। उसका नाम परिषह या उपसर्ग सहन करना है।

कितना सहन करें ?—तो कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव में समस्त जगत से भिन्नरूप स्थित रहने की शक्ति है। अधिक संयोग एकत्रित होंगे तो उसे ज्ञान से छुड़ा देंगे—यह बात अशक्य है। ज्ञानी ज्ञानस्वभाव में परिणमित हुआ और ज्ञानधारा बहने लगी, फिर वह ज्ञानधारा अच्छिन्न धारावाही वर्तती है; उसकी ज्ञान धारा को छिन्न करने की शक्ति किसी में नहीं है।—ऐसी भेदज्ञानदशा प्रगट करने के लिये अंतर में बहुत पात्रता और बहुत चाहिये।

कितनी तैयारी ! कितनी उत्कंठा ! कितनी जागृति !! अहा, भेदज्ञान द्वारा जो जागृत हुआ, सो हुआ... वह राग से छूट गया... अब राग से भिन्न होकर स्वभाव के साथ अभेदपना से परिणमित उसकी ज्ञानधारा को तोड़ने की शक्ति किसी में नहीं है। जिसप्रकार सुवर्ण को लोहा बना देने की शक्ति अग्नि में नहीं है; उसीप्रकार जो ज्ञानी हुआ, उसे अज्ञानी बनाने की शक्ति किसी में नहीं है.. अरे, नरक में कितनी प्रतिकूलता है ! तथापि वहाँ भी श्रेणिक जैसे जीव ज्ञानरूप ही रहते हैं, वे अपने ज्ञानसवभाव में ही वर्तते हैं, राग से भिन्नरूप ही उनका ज्ञान वर्तता है। ज्ञानी को भेदज्ञान रटना नहीं पड़ता, परंतु उसका स्वभाव ही राग से भिन्न ज्ञानरूप परिणमित होने का है और ज्ञानी के उस स्वभाव का नाश किसी भी संयोग द्वारा नहीं होता। ज्ञान अपने आनंद स्वभाव से रहता हुआ तथा रागादि से भिन्न रहकर ही अपना कार्य करता है। उसे समय या घंटे नहीं गिनना पड़ते कि—'अरे, यह प्रतिकूलता कब दूर होगी ?'—प्रतिकूलता के काल में भी उसका ज्ञान तो ज्ञानरूप ही वर्तता है; वह किंचित् अज्ञानरूप नहीं होता। ऐसी अपूर्व दशा का नाम भेदज्ञान और संवर है। वह मंगल तथा महिमावंत है।

स्वज्ञेयरूप आत्मा का वर्णन

श्री प्रवचनसार की १७२वीं गाथा में 'अलिंगग्रहण' के बीस अर्थों से असाधारण लक्षण द्वारा स्वज्ञेयरूप आत्मा की पहिचान कराई है। उसके प्रवचनों में से उसका महत्त्वपूर्ण सारभाग यहाँ दिया जाता है। अहा! द्रव्यानुयोग का दोहन कर संतों ने स्वज्ञेरू का साक्षात्कार करवाया है।

आत्मा को जानने का असाधारण लक्षण क्या है, ऐसा जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न है। उसे आचार्यदेव इस १७२वीं गाथा में असाधारण लक्षण बताकर आत्मा के परमार्थस्वरूप की पहिचान कराते हैं।

आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है, वह इन्द्रियों के द्वारा जानने का कार्य नहीं करता। इन्द्रियों द्वारा जाने, वह आत्मा; इसप्रकार पहचान करे तो इन्द्रिय से भिन्न आत्मा के परमार्थ स्वरूप की पहिचान नहीं होती। इन्द्रियों से आत्मा तो बिल्कुल पृथक् हैं, ऐसा भेदज्ञान कराकर अतीन्द्रिय ज्ञानमय आत्मा की पहिचान करायी है।

पुनरपि ज्ञेयरूप ऐसा जो आत्मा इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात नहीं होता। इन्द्रियों के अवलंबन वाला ज्ञान आत्मा को नहीं जान सकता। चिदानंदस्वभाव में अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय हुआ ज्ञान ही आत्मा को जान सकता है।

और चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा इन्द्रियगम्य किन्हीं भी चिह्नों से स्वज्ञेय नहीं होता। अतीन्द्रिय आत्मा इन्द्रिय-चिह्नों द्वारा कैसे जाना जा सकता है ?

और दूसरे जीव एक मात्र अनुमान के द्वारा आत्मा को जान लें, ऐसा भी आत्मा नहीं। इसमें अद्‌भुत बात है। स्वयं को स्वसंवेदन हुए बिना केवलज्ञानी मुनि की धर्मी वगैरह सामने हो, वह आत्मा की यथार्थ पहिचान नहीं हो सकती। अहा, चैतन्य की अचिंत्य कीमत कैसे होती है, उसकी यह बात है। राग से तनिक अलग होकर ज्ञानस्वरूपी आत्मा का निर्णय करे, तभी स्व-पर आत्मा की सच्ची पहिचान होती है और जिसे ऐसी पहिचान हो गई, उसे देव-गुरु आदि के प्रति अपूर्व प्रमोद उत्पन्न होता है। पहिचान बिना सच्चा प्रमोद कहाँ से आवे।

बारह अंग का रहस्य आत्मा के स्वसंवेदन में समाया है। स्वसंवेदन के बिना बारह अंग का रहस्य समझ में नहीं आता। भैया, चैतन्य का रहस्य समझने के लिये तो कितनी अपूर्व पात्रता होनी चाहिये। अपनी आत्मा को स्वसंवेदन से जाने वगैर दूसरी आत्मा का अनुमान भी सच्चा नहीं हो

सकता। स्वसंवेदन के बिना सभी जानपना अथवा क्रियाकांड सभी थोथा है। भगवान आत्मा इन्द्रियों द्वारा अथवा विकल्पों के द्वारा जाननेवाला नहीं है। अपितु प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जाननेवाला है। ऐसा भगवान आत्मा है। ऐसा उपयोग आत्मा का असाधारण लक्षण है—उसे पहिचान लेने पर आत्मा पहिचानी जाती है।

आत्मा की शांति के वेदन अनुभव का, निर्विकल्प रसपान करने का उपाय यह है कि उपयोग लक्षण को अंतरंग में ले जाकर चैतन्य में एकाकार कर देना। उपयोग अंतर में जाकर एकत्र (एक) हुआ तो वह किसी अन्य के द्वारा नष्ट नहीं होता। जो उपयोग राग से अलग होकर चैतन्य में ठहरा, वह उपयोग कदापि रागादि परभावों के साथ एकाकार नहीं होता अर्थात् रागादि द्वारा वह नष्ट नहीं होता; उसको राग ज्ञेयरूप से रहता है, परंतु उस राग को जानने के कारण उपयोग नष्ट नहीं होता।

साधक का ज्ञान भले अधूरा हो परंतु वह ज्ञान राग से जुदा होकर चैतन्य में एकाकार हुआ है, इसलिये उसका उपयोग चैतन्य को ही अभिनंदता हुआ बढ़ता ही रहता है। वह किसी से नष्ट नहीं होता। ऐसी उपयोग स्वरूप आत्मा को पहिचाने तो ही उसकी सच्ची पहिचान होती है, और शांति का अनुभव होता है।

ऐसी उपयोगस्वरूप आत्मा को पहिचानना—यही सर्वज्ञ वीतराग का कहा हुआ धर्म है। ऐसा पहिचानकर उपयोग को अंतर में लगाने से शांत-निर्विकल्प रस का पान किया जा सकता है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। अतीन्द्रियज्ञान बिना अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव नहीं होता। राग से अलग होकर अंतर में झुके हुए मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं और उनमें अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है।

देखो, यह शांति का रास्ता। परंतु जीव शांति का सच्चा रास्ता भूलकर राग के रास्ते पर चला गया है। अतः जहाँ था, वहीं का वहीं रहता है। राग में दौड़-दौड़कर जितना भी दौड़े परंतु संसार में ही रहता है। उपयोग को अंतर में लगाकर राग से जुदा हुए बिना मोक्ष का रास्ता मिले, ऐसा नहीं हो सकता और न संसार से बाहर ही निकल सकता है।

जैसे एक गाँव से दूसरे गाँव जाना हो और अंधेरे में रास्ता भूलकर सब दौड़-दौड़कर पहिले जहाँ था, वहीं वहीं आकर खड़ा रहे; उसीप्रकार संसार में से मोक्ष को जाना हो तो उसका रास्ता है कि उपयोग को अंतर में लगाना। परंतु इसके बदले अज्ञान से रास्ता भूले और राग के रास्ते चला

जाये—उपयोग को राग में जोड़ दे; बाद में राग के रास्ते में कितना भी दौड़े, कितनी भी शुभराग की क्रिया कर और बाद में पूछे की कहां तक पहुँचा ?—तो ज्ञानी कहता है कि हे भाई ! तू था वहीं का वहीं है, संसार में और संसार में ही हो, मोक्ष के रास्ते पर एक पैर भी नहीं आया है। तू मोक्ष की राह भूलकर संसार की राह पर चला आया है। इसलिये अनंतकाल बीता तो भी तू संसार में और संसार में ही है। भाई, मोक्ष का रास्ता तो उपयोग को अंतर में लगा, तभी ही मिल सके, ऐसा है।

आत्मा का भान जब होता है, तब उपयोग विकल्प से जुदा होकर अंतर में लगा होता है। पश्चात् उस ज्ञानी को विकल्प आये और उपयोग उसमें जुड़े, तथापि उसकी उसके साथ एकता नहीं होती, एकताबुद्धि तो चैतन्य में ही रहती है, इसीलिये राग के समय ज्ञानी का उपयोग नहीं होता।

राग भी उपयोग से दूर है। उससे ज्ञानी का उपयोग नष्ट नहीं होता—अहो ! यह बात अंतर के लक्ष्य बिना समझ में आये, ऐसी नहीं है। धर्मी के उपयोग में चैतन्य की मुख्यता है, उसमें राग का अभाव है, अतएव धर्मी का उपयोग राग से मुक्त है, अलग है, स्वसन्मुख होकर ऐसा उपयोग जिसे प्रकटा है, वही धर्मी है।

निश्चय और व्यवहार दोनों के जानने से प्रमाणज्ञान होता है—यह बात सच्ची है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार के आश्रय से लाभ होता है। जो व्यवहार के आश्रय से लाभ मानें, तब तो निश्चय-व्यवहार का प्रमाणज्ञान होता ही नहीं है। अलिंगग्रहण आत्मा के इस वर्णन में व्यवहार का ज्ञान आ तो जाता है, परंतु व्यवहार का आश्रय छुड़ाकर परमार्थ शुद्ध आत्मा का आश्रय कराया है। परमार्थ के आश्रय से आत्मा का स्वरूप जाने, तब प्रमाणज्ञान हो, तब ही निश्चय व्यवहार दोनों का ज्ञान सच्चा है।

धर्मी के धर्म का चिह्न क्या ? बाहर का द्रव्यलिंग दिगंबर शरीर अथवा पंचमहाव्रत के शुभविकल्प—वास्तव में धर्मी के धर्म के चिह्न नहीं है। अंतर में चैतन्य का निर्मल उपयोगरूप जो भावलिंग है, वही धर्मी के धर्म का चिह्न है। धर्मी जीव जड़ शरीर के चिह्न को क्यों धारण करे ? धर्मी जीव विकल्प को क्यों धारण करे ? धर्मी जीव तो शुद्ध उपयोगरूप अपने धर्म ही को धारण करता है, और वही धर्मी का चिह्न है।

यहाँ मुनि के चिह्न की बात की, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भी विकल्प के द्वारा अथवा देह की क्रियारूप चिह्न के द्वारा पहिचाना नहीं जाता। अपनी निर्मल परिणति-भावरूप चिह्न के द्वारा ही वह पहिचाना जाता है। यह ऐसे बोलता है, ऐसे खाता है, ऐसे देखता है, परंतु उसके अंतर की

दृष्टि और परिणति क्या है, यह न पहिचाने तो धर्मी की पहिचान होती नहीं है।

नग्नदशा अथवा पंचमहाव्रत वास्तव में मुनि के चिह्न नहीं हैं; परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि नग्नदशा से अथवा पंच महाव्रत से विरुद्ध स्थिति वहाँ होती है। मुनिदशा में द्रव्यलिंग की दृष्टि से नियमत: नग्नदशा ही होती है और पंचमहाव्रत भी होते हैं—ऐसा ही व्यवहार होता है, परंतु यह व्यवहार कोई धर्मी का चिह्न नहीं है, यह व्यवहार है, इसलिये मुनिदशा है—ऐसा नहीं है। मुनिदशा व्यवहार के आश्रय से नहीं प्रकटी, मुनिदशा तो चैतन्य के परमार्थस्वरूप में लीन होने से ही प्रकटी है। अतएव विकल्प अथवा देह की दशारूप लिंग से धर्मी का ग्रहण अर्थात् धर्मी की पहिचान नहीं होती। 'यह आत्मा निर्मलदशारूप परिणमा है'—ऐसे विकल्प के द्वारा अथवा उसके देह की क्रिया देखकर निश्चय नहीं किया जा सकता, परंतु उसके अंतरंग निर्मल परिणतिरूप चिह्न को पहिचानकर ही उसका निश्चय किया जा सकता है।

इस अलिंगग्रहण के आखिरी तीन वाक्यों में तो आचार्य भगवान ने द्रव्य-गुण पर्याय के भेद से भी पर एकाकार चैतन्यवस्तु का अद्‌भुत स्वरूप बताया है। चैतन्य के अनुभव का रहस्य जगत के सामने खोलकर संतों ने महान उपकार किया है; उसमें भी इस अलिंगग्रहण के २० वचनों का वर्णन करके तो कमाल ही कर दिया है।

'यह ज्ञान, वह आत्मा' ऐसे गुणभेद के विकल्प द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं होता। 'ज्ञान, वही आत्मा; दर्शन, वही आत्मा; चारित्र, वही आत्मा'—ऐसे गुणभेद के विकल्प द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मा में अनंत गुण हैं अवश्य, परंतु गुणों द्वारा भेद करके समझने जाये तो आत्मा अनुभव में नहीं आता—क्योंकि चैतन्यमूर्ति शुद्ध आत्मा गुणभेद के विकल्प को स्पर्श नहीं करता।

यह ज्ञेय अधिकार है, उसमें स्वज्ञेय आत्मा कैसा है और किस तरह जाना जाता है, उसकी यह बात है। चैतन्यमूर्ति आत्मा इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता और इन्द्रियों द्वारा वह स्वज्ञेय नहीं होता। इसीप्रकार अकेले विकल्प के द्वारा अथवा अनुमान के द्वारा भी वह जाना जा सके, ऐसा भी नहीं है, और वह स्वयं भी अकेले अनुमान से जाननेवाला नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञाता आत्मा है, वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही जाना जा सके, ऐसा है।

अब ऐसा स्वसंवेदन कहाँ से आवे? आत्मा स्वसंवेदनमय ज्ञान-उपयोग को आत्मा कहीं बाहर से नहीं लाता, यह तो अंदर से ही प्रकट होता है। अंतर-जागृति की ओर गये बिना यह बात किसी रीति से ठीक बैठे, ऐसी नहीं है। और अंतर की जागृति होकर जो स्वसंवेदन हुआ, जो

उपयोग प्रकट हुआ, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। ऐसा उपयोग आत्मा का चिह्न है।

देखिये, यह आत्मा का असाधारण लक्षण है। इस लक्षण द्वारा आत्मा को समस्त परद्रव्यों से पृथक् किया जा सकता है। ऐसे स्वलक्षण से यदि पहिचानें, तभी आत्मा को पहिचाना, ऐसा कहा जा सकता है और तभी आत्मा परद्रव्यों के संपर्क के छूटकर मुक्ति पाती है। परंतु जो रागादि लक्षण द्वारा अथवा देहादि लक्षण द्वारा आत्मा को पहिचानें तो पर से भिन्न शुद्ध आत्मा को नहीं पहिचाना जाता; रागादि तो परमार्थ से परज्ञेय है, उनके चिह्न द्वारा स्वज्ञेय नहीं जाना जा सकता।

अकेले पर्याय के ग्रहण द्वारा अर्थात् पर्याय के ज्ञान द्वारा संपूर्ण आत्मा स्वज्ञेय नहीं होता। जो निर्मल पर्याय प्रकटी, वह तो आत्मा के साथ अभिन्न है, और उसने स्वज्ञेय को जाना है; परंतु शुद्ध द्रव्य में से निर्मलपर्याय का भेद करके यदि विचार करें तो वहाँ अखंड शुद्ध द्रव्य स्वज्ञेय नहीं होता, अत: वह शुद्धद्रव्य, पर्याय-विशेष से आलिंगित नहीं है - ऐसा कहा।

शुद्धद्रव्य और शुद्धपर्याय दोनों से मिलकर पूर्ण स्वज्ञेय है। आत्मद्रव्य परद्रव्यों से तो स्पर्शित नहीं है, राग से भी स्पर्शित नहीं है, और निर्मल पर्याय प्रगट हुई, इस पर्याय के भेद के द्वारा भी शुद्धद्रव्य स्पर्शित नहीं है।

चैतन्यचिह्न में से परद्रव्य तो बहुत दूर रहा, रागादि अशुद्धता तो निकाल दी, परावलम्बी उपयोग भी निकाल दिया, और अंत में स्वसंवेदन से प्रकट हुई जो निर्मल पर्याय है, उसके भेद को भी निकाल देता है, प्रकट हुई निर्मल पर्याय के ऊपर लक्ष रखकर संपूर्ण आत्मा को स्वज्ञेय बनाया नहीं जा सकता। अतएव एक (अकेली) पर्याय के ज्ञान से उसका ग्रहण नहीं होता—इसलिये आत्मा अलिंगग्रहण है।

क्या संपूर्ण ध्रुववस्तु एक समय की पर्याय जितनी ही है? जो ऐसा हो, तब तो पर्याय के नष्ट होने पर ध्रुववस्तु का भी नाश हो जाये।—परंतु ऐसा नहीं है; अतएव एक समय की पर्याय के ग्रहण द्वारा (उसके ज्ञान के द्वारा) संपूर्ण आत्मा का ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता। तब किसप्रकार से उसका ग्रहण हो? कि द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेदरूप जो अखंड स्वज्ञेय है, उसके सन्मुख (प्रत्यक्ष) होने से ही उसका ग्रहण होता है। ज्ञान गुण की पर्याय हो, अथवा श्रद्धा वगैरह किसी भी गुण की पर्याय हो, उस पर्याय विशेष से अर्थात् पर्याय का भेद करके लक्ष में लेने से शुद्ध आत्मा स्वज्ञेय नहीं होता।

अब अंतिम वाक्य में कहते हैं कि जो शुद्ध पर्याय प्रकटी, वह द्रव्य से आलिंगित (संस्पृष्ट)

नहीं है। देखिये तो जरा, आचार्यदेव आत्मा के अनुभव के कैसे अद्‌भुत रहस्य बतलाते हैं। शुद्धपर्याय प्रकट कर उसका स्वसंवेदन करनेवाला जीव, प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत जो अकेला सामान्य द्रव्य है, उसको स्पर्श नहीं करता; शुद्धपर्याय तो द्रव्य के आश्रय से हुई है; परंतु शुद्धपर्याय का स्वीकार किये बिना स्वज्ञेय का स्वीकार नहीं होता। इसलिये आत्मा द्रव्य से आलिंगित नहीं हुई (ऐसी) शुद्धपर्याय है—ऐसा कहा। शुद्धपर्याय के वेदन का अनुभव का स्वीकार किये बिना अकेले सामान्य द्रव्य को लक्ष में लेकर आत्मा को ज्ञेय करने जाये तो वह ज्ञेय नहीं होता। अतएव आत्मा शुद्धपर्याय है। कैसा? कि द्रव्य से जो आलिंगित नहीं (है) ऐसा। १८ वें बोल में गुणभेदरहित शुद्ध द्रव्य कहा। १९ वें बोल में विशेष पर्याय से आलिंगित नहीं, ऐसा शुद्धद्रव्य कहा, और २०वें बोल में द्रव्य सामान्य से आलिंगित नहीं, ऐसा शुद्धपर्याय—ऐसा कहा; इसप्रकार शुद्धद्रव्य-गुण-पर्याय का एकतारूप अखंड स्वज्ञेय बताकर आचार्य भगवान ने महान उपकार किया है।

देखिये, यह द्रव्यानुयोग का दोहन। अहो, आचार्य भगवंतों ने स्वानुभव के द्वारा द्रव्यानुयोग को दुहकर इन २० वचनों में भर दिया है, और स्वज्ञेयरूप आत्मा का साक्षात्कार कराया है।

हमारा भारत देश

(यहाँ दिये प्रश्नोत्तर द्वारा अपने भारत देश की कुछ विशेषताएँ जानकर जिज्ञासुओं को आनंद होगा)

प्रश्न—भारत देश के तीर्थों में प्रधान तीर्थ कौन सा है ?

उत्तर—श्री सम्मेदशिखरजी तीर्थधाम भारत का मुख्य तीर्थ है, वह शाश्वत निर्वाणधाम है और वर्तमान २४ में से २० तीर्थंकर वहाँ से मोक्ष गए हैं।

प्रश्न—भारतदेश में इस समय कौन सी ऊँची प्रतिमा है ?

उत्तर—दक्षिण भारत के श्रवणवेलगोल में चन्द्रगिरिपर्वत पर स्थित बाहुबली भगवान की प्रतिमाजी इस समय सबसे ऊँची है, वह ५६ फीट ऊँची है, चैतन्यसाधना में लीन परम अद्‌भुत उसका दर्शन है... विश्व का एक आश्चर्य है। कहान गुरु इसे देखकर अति प्रसन्न हुए हैं।

प्रश्न—भारत देश में जैनों की प्रधान नगरी कौन है—कि जहाँ पर दिगम्बर जैनधर्म के सबसे अधिक मंदिर हों ?

उत्तर—भारत देश की जयपुर नगरी में सबसे अधिक जिनमंदिर हैं। यहाँ २०० के करीब जिनमंदिर हैं, ३० हजार जितनी दिगम्बर जैनों की बस्ती है। यह जैपुर-नगरी भारत में जैनों की मुख्य नगरी है।

प्रश्न—भारत में इस समय किस पर्वत पर सबसे अधिक जिनमंदिर हैं ?

उत्तर—उत्तर भारत में सोनागिरि पर्वत पर हाल में सबसे अधिक दिगम्बर जैनमंदिर हैं। यह पर्वत अंग-अनंग मुनियों का सिद्धक्षेत्र है, और उसके ऊपर ७७ जिनमंदिर हैं। ये सभी दिगम्बर जैनों के हैं।

प्रश्न—भारत देश में वर्तमान में सबसे अधिक दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ कहाँ पर हैं ?

उत्तर—मध्यभारत में आये हुए देवगढ़ (झांसी) पर्वत के ऊपर सबसे अधिक जिनप्रतिमाएँ हैं; वहाँ लाखों जिनप्रतिमाऐं विराजमान हैं; उनका अद्‌भुत कलाकौशल देश-विदेश में प्रसिद्ध हैं।

प्रश्न—इस भरतक्षेत्र के इस चौबीसी के २४ तीर्थंकर कहाँ जनमे ?

उत्तर—भरतक्षेत्र के चौबीस तीर्थंकर तीनों काल में अपने इस भारतदेश में ही जनमे हैं।

इस चौबीसी में पाँच तीर्थंकर अयोध्या में जनमे हैं। इस भरतक्षेत्र में जितने भी चक्रवर्ती होते हैं, वे भी भारत में ही जन्मते हैं। इसप्रकार भारत का आध्यात्मिक गौरव भरतक्षेत्र में अजोड़ (अप्रतिम) है। तीर्थंकरों के जन्मस्थान निम्नलिखितरूप में हैं—

नं०		नाम	जन्मस्थान	नं०		नाम	जन्मस्थान
१	श्री	ऋषभदेव	अयोध्या	१३	श्री	विमलनाथ	कंपिलानगरी
२	''	अजितनाथ	अयोध्या	१४	''	अनंतनाथ	अयोध्या
३	''	संभवनाथ	श्रावस्ती	१५	''	धर्मनाथ	रत्नपुरी
४	''	अभिनंदन	अयोध्या	१६	''	शांतिनाथ	हस्तिनापुर
५	''	सुमतिनाथ	अयोध्या	१७	''	कुन्थुनाथ	हस्तिनापुर
६	''	पद्मप्रभु	कौशाम्बी	१८	''	अरहनाथ	हस्तिनापुर
७	''	सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	१९	''	मल्लिनाथ	मिथिलापुरी
८	''	चन्द्रप्रभु	चन्द्रपुरी	२०	''	मुनिसुव्रत	राजगृही
९	''	पुष्पदंत	काकन्दी	२१	''	नमिनाथ	मिथिलापुरी
१०	''	शीतलनाथ	भद्रिकापुरी	२२	''	नेमिनाथ	शौरीपुर
११	''	श्रेयांसनाथ	सिंहपुरी	२३	''	पार्श्वनाथ	वाराणसी
१२	''	वासुपूज्य	चम्पापुरी	२४	''	महावीर	वैशाली

अहो! आत्मा का सर्वज्ञ स्वभाव

सिद्ध भगवंतों के निरुपाधि ज्ञान-दर्शन और सुख का वर्णन करते हुए आचार्यदेव पंचास्तिकाय गाथा २९ में कहते हैं कि निज शक्ति के अवलंबन से स्वयमेव सर्वज्ञ हुए और स्वकीय सुख का अनुभव करनेवाले सिद्ध भगवंतों को पर से कोई प्रयोजन नहीं है। सिद्ध भगवंतों के इस सर्वोच्च आदर्श को लक्ष में लेकर तू भी हे जीव! परावलंबन की बुद्धि छोड़, और स्वावलंबन में आत्मा को लगा... ऐसे करने से तेरा आत्मा भी सिद्धों के मार्ग पर चलने लगेगा।

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसीय
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ॥२९॥

॥हरिगीत॥

स्वयमेव चेतक सर्वज्ञानी सर्वदर्शी होत है,
अर निज अमूर्त अनंत अव्याबाध सुख वेदन करे ॥२९॥

पंचास्तिकाय की इस गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि जीव का स्वभाव स्वतः सर्वज्ञ होने का है। देह से भिन्न आत्मतत्त्व है, उसमें अपने स्वभाव से सबको जानने-देखने की ताकत है; जहाँ ज्ञान-दर्शन की पूर्णता होती है, वहाँ आनंद की भी पूर्णता होती ही है। जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे क्या करना चाहिये, इसकी यह बात है।

शरीर जड़ है, अजीव है; भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति है। मेरे में ही सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और पूर्णानंद होने की शक्ति है। पर्याय में अल्पज्ञता होने पर भी मैं स्वयं अपने स्वभाव से पूर्ण ज्ञान-दर्शन-आनंदमय हो सकता हूँ—ऐसी प्रथम प्रतीति होनी चाहिये। इसीलिये पहिले सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं।

नास्तिक कहता है कि—इस जगत में सर्वज्ञ है ही नहीं अर्थात् कोई आत्मा तीनों काल और तीनों लोक को जान सके, ऐसा ज्ञानवाला हो—ऐसा हमें नहीं लगता; क्योंकि सर्वज्ञ प्रत्यक्ष में दिखता नहीं है; जैसे गधे के सींग नहीं दिखलाई देते, उसीप्रकार सर्वज्ञ भी नहीं दिखलाई देता, अतएव सर्वज्ञ नहीं है—इसप्रकार नास्तिक कुतर्क करता है। **प्रश्न**—तुम तो कहते हो कि सर्वज्ञ अनंत हैं, एक-एक जीव में सर्वज्ञ हो सकने की ताकत है, इस समय महाविदेह में सीमंधर भगवान वगैरह सर्वज्ञ भगवन्त विराजते हैं परंतु हमें तो सर्वज्ञ दिखाई नहीं पड़ता।

तो उसको हम **पूछते** है कि—हे भाई! सर्वज्ञ नहीं है, यह तू किसप्रकार कहता है? क्या इस काल में और इस क्षेत्र में ही सर्वज्ञ नहीं है? अथवा सर्वकाल और सर्वक्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं है? इस काल और इस क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं है, यह तो ठीक है, परंतु जगत में कहीं भी सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा जो तू कहता हो तो क्या तूने तीनों लोक और तीनों काल देखे हैं? संपूर्ण क्षेत्र देखो बिना 'यहाँ सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता; अतएव सभी क्षेत्र और सभी काल में सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा यदि तू कहे तो तू ही तीन काल और तीन लोक का ज्ञाता हो गया और इसप्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि हो गई।

हाँ, गधे के सींग नहीं हैं परंतु भैंस वगैरह के तो सींग हैं न? उसीप्रकार इस क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं हैं परंतु पंच विदेहक्षेत्र में तो सर्वज्ञ हैं, अतएव सर्वज्ञ का सर्वथा अभाव नहीं है। जिसतरह 'अमुक जगह पर घड़ा नहीं है' ऐसा कब कहा जाता है? कि जब वह क्षेत्र देखा हो तभी; उसीप्रकार 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा तू कब कह सकता है? कि तूने जब सब क्षेत्र देखा हो तभी। इसलिये उसमें सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है। स्वयं ने जो क्षेत्र देखा न हो, उस क्षेत्र में 'यहाँ घड़ा नहीं है' अथवा 'यहाँ सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा निषेध नहीं किया जा सकता।

जो सर्वज्ञ है, वह सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता; और जिसने सभी काल और सब लोक देखे न हों, वह भी सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता। देखनेवाला ना नहीं कर सकता और अंधे का विश्वास किया नहीं जा सकता।

दूसरी बात:—तू कहता है कि 'हमें सर्वज्ञ दिखलाई नहीं देता' परन्तु भाई! तू तो आनेवाले कल की भी बात जान नहीं सकता, तो क्या इससे आनेवाले कल का अभाव हो गया? नहीं। उसीप्रकार हमारे चित्त के भाव को अथवा एक सूक्ष्म परमाणु को भी तू नहीं जान सकता, तो क्या इससे हमारे चित्त का अथवा परमाणु का अभाव हो गया? नहीं न। उसीप्रकार सर्वज्ञ तुझे तेरे स्थूल ज्ञान में यदि न मालूम पड़े तो उससे कोई सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो जाता।

अब नास्तिक पूछता है कि—तुम सर्वज्ञ का अस्तित्व किस प्रकार सिद्ध करते हो?

तो कहते हैं कि—हम अपने ज्ञान के अंश ऊपर से सर्वज्ञ का अनुमान करते हैं। विकार टालने पर ज्ञान कायम रहता है, तो उस ज्ञान का धारी ज्ञानस्वभावी आत्मा में एकाग्र हो जाने से राग-द्वेष छूट जाने से पूर्णज्ञान भी प्रकट हो सकता है।—ऐसा हमारा अनुमान है और जो अनुमान है, वह अन्य किसी को प्रत्यक्ष भी अवश्य होता है। फिर सर्वज्ञ के बाधक प्रमाण का अभाव है।

ज्ञान के अल्प विकास में से विशेष विकास की प्राप्ति देखी जाती है, तो वह कहाँ से आया?

ज्ञान का पूर्ण स्वभाव भरा है, उसी में से वह विशेष आया है, और उसके अवलम्बन से पूर्ण ज्ञान प्रकट होने पर सर्वज्ञता प्रकट होती है, इसप्रकार स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक सर्वज्ञ का अनुमान होता है।

जैसे छोटी पीपल के स्वभाव में ६४ प्रहरी तीखापन (चरपराहट) भरा है और वही प्रकट होता है। उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानस्वभाव त्रिकाल से पड़ा है, उसका वीतरागी विज्ञान होने पर उसमें से ही पूर्णानंदमय सर्वज्ञदशा प्रकट होती है। ज्ञान की ओर एकाग्रता होने से ज्ञान बढ़ता है, और पूर्ण एकाग्रता होने से ज्ञान भी संपूर्ण खिलता है। देखो! इस सर्वज्ञ के सिद्ध करने में मोक्षमार्ग भी साथ ही आ जाता है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ज्ञानस्वभाव का स्वीकार कर उसमें लीन होकर सर्वज्ञ हुआ आत्मा इस जगत में है। जिसे आत्मा को स्वीकार करना हो, उसे ऐसे सर्वज्ञ स्वभाव को स्वीकृत करना पड़ेगा। सर्वज्ञता कहीं बाहर से नहीं आती। पर्याय को अंतर में एकाग्र करने से अल्पज्ञता में से सर्वज्ञता हो जाती है। तेरे आत्मकल्याण का मार्ग, निमित्त और रागरहित (होकर) एकले ध्रुवस्वभाव में परिणति को एकाग्र करना, यही है। ऐसा कहनेवाला सर्वज्ञदेव ही देव है। ऐसा कहनेवाला गुरु ही सच्चा गुरु है और ऐसा बतलानेवाली वाणी ही शास्त्र है। इसके सिवाय अन्य को माने तो वह व्यवहार खोटा है और जो बाह्य अवलंबन में धर्म मानता है, वह मूढ़ है।

'सर्वज्ञ है' इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही ज्ञान है। उसमें शरीर आदि तो दूर ही है—रागादि भी उसके स्वभाव में नहीं है। आत्मा में ज्ञानादि अनंत गुण त्रिकाल ध्रुव हैं, उनमें क्षण-क्षण में परिवर्तन होता है, यह परिवर्तन स्वभाव के आश्रयपूर्वक होने से ज्ञान-आनंद वगैरह खिलते हैं, परंतु किसी निमित्त वगैरह के आश्रय से ज्ञानादि नहीं खिलते। पर्याय में रागादि और अल्पज्ञता है, वह तो ऊपर का क्षणिक भाग है और ध्रुव स्वभाव पूर्ण त्रिकाल है। आत्मा चैतन्य हीरा है, उसकी पर्याय के एक पासे में जरा सा दाग है, परंतु ज्ञान-दर्शन आनंद का कंद सम्पूर्ण चैतन्य हीरा दागवाला नहीं है। इसप्रकार पर्याय को गौण करके ध्रुव आनंदकंद चिदानंद स्वभाव की प्रतीति कर उसमें एकाग्रता करने से आत्मा में से रागादि निकल जाते हैं और पूर्ण ज्ञान-आनंद प्रकट हो जाता है। सर्वज्ञता जहाँ होती है, वहाँ पूर्ण आनंद होता ही है।

पहले साधकदशा में आनंद अधूरा था; अज्ञानी ने पर में सुख और आनंद माना था, उसके बदले, मैं तो पर से भिन्न चिदानंदस्वभावी हूँ—ऐसा अंतर्दृष्टि का विषय बनाने पर स्वभाव में से आनंद प्रकट हुआ और पूर्णानंद की प्रतीति हो गई। देखो, यह सर्वज्ञ की प्रतीति!

मैं अपनी आत्मा में पूर्ण ज्ञान और आनंद प्रकट करना चाहता हूँ और मेरे पहिले पूर्णज्ञान-आनंद प्रकट करनेवाले जीव हो गए हैं, वे कैसे हैं ? कहाँ हैं ? कितने हैं ? इसको पक्का करना चाहिये।

अनादिकाल से अपने-अपने क्रम से सर्वज्ञ तो होते ही रहते हैं, सिद्धलोक में ऐसे अनंत सिद्ध सर्वज्ञरूप में विराजते हैं। महाविदेह में सीमंधर आदि तीर्थंकर और लाखों केवली भगवंत इस समय भी देहसहित सर्वज्ञरूप में विराजते हैं।

इसप्रकार अनादिकाल, सिद्धलोक, महाविदेहक्षेत्र इन सबको स्वीकार किये बिना सर्वज्ञ को नहीं माना जा सकता। जो भी सर्वज्ञ हुए हैं, वे सब अपनी आत्मा में से ही हुए हैं—इसप्रकार निश्चय कर अपने आप अपनी आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव प्रतीति करना, यह प्रथम धर्म है।

केवली सर्वज्ञ कैसा होता है ? कहाँ होता है ? वह सर्वज्ञता कहाँ से प्रकट होती है ? उस सर्वज्ञता के साधक संतों की दशा कैसी होती है ? और सर्वज्ञ द्वारा कथित शास्त्र किसप्रकार के होता हैं ? इन सबका निनिश्चय किये बिना धर्म नहीं होता।

जिसतरह एक और एक दो होते हैं, और इस बात में कोई भी बुद्धिमान पुरुष ना तो नहीं करता; उसीप्रकार सर्वज्ञता जगत में सिद्ध है, उसके विषय में कोई ना नहीं कर सकता।

कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं कि अहो! 'जादोसयं स चेदा सव्वण्हू' आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से सर्वज्ञ होता है। अपने आधीन सर्वस्वभाव की प्रतीति करना, यही परमात्मा होने का उपाय है। जिसे अवतार की इच्छा न हो, जिसे संसार के दु:खों का भय लगता हो और आत्मा की पूर्णानंद परमदशा—परमात्मदशा प्रकट करने की उत्कृष्ट कामना हो, वह सर्वज्ञ का निर्णय करके युक्ति, आगम, व अनुभव—प्रमाण से अपनी आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय करे, उसकी प्रतीति करे और उसमें अंतर्मुख-तल्लीन होकर परिणति की एकाग्रता करे—यह सर्वज्ञ बनने का उपाय है। देखो! अल्पज्ञता है, राग है, निमित्त है, परंतु इनके आश्रय से सर्वज्ञता नहीं होती। सर्वज्ञता तो अपने ध्रुवस्वभाव में से ही प्रकट होती है।

अहो! धीर बनकर चैतन्य के स्वभाव का विचार कर। किधर जाने से सर्वज्ञता मिलती है ? सर्वज्ञता है, उसका उपाय करनेवाले और कहनेवाले भी हैं, उसके विपरीत कहनेवाले भी हैं, इसलिये परीक्षा करके सर्वज्ञ को, सर्वज्ञता के साधक संतों को तथा उनके द्वारा कथित सर्वज्ञता के उपायों को जानना चाहिये। एक पैसे की मूल्य का मिट्टी का तवा लेने जाता है तो भी वहाँ बजाकर

परीक्षा करता है, अत: जिसे सर्वज्ञ होना है—पूर्णानंद प्रकट करना है, उसे ज्ञान में परीक्षा करके सर्वज्ञ को पक्का करना चाहिये और उसी की तरह अपनी आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है, यह परखना चाहिये।

परखे माणिक मोती, परखे हेम कपूर।
पर एक न परखौ आत्मा तहां भयो दिग्मूढ़॥

इसीलिये यहाँ आचार्य भगवान आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव / पूर्ण स्वभाव की पहिचान कराते हैं। अहो! स्वयं आत्मा ही सर्वज्ञतारूप में परिणमती है—ऐसा जो निर्णय करता है, उसके अंतर में मुक्ति का मार्ग बिना खुले नहीं रहता, उसे किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता। स्वभाव क्या है? पर्याय क्या है? विकार क्या है? निमित्त क्या है?—इन सबको पहिचान कर ध्रुवस्वभाव की ओर जाये तो मुक्तिमार्ग प्रकट हो। इसके सिवाय अन्य किसी उपाय द्वारा न मुक्तिमार्ग प्रकट होता है और न संदेह ही मिटता है।

जहाँ ज्ञान पूर्ण हो, वहाँ दर्शन पूर्ण हो—अनंत गुणों की दशा पूर्ण हो—ऐसे अनंत गुणवाले आत्मा की प्रतीति कर।

सर्वज्ञ प्रत्यक्ष पूर्ण दिखलाई न दे, उससे कहीं उसका निषेध नहीं हो सकता, परंतु अनुमान से पक्का करना चाहिये। जिसप्रकार आनेवाला कल का दिन प्रत्यक्ष नहीं दिखलाई देता परंतु आनेवाला कल जब आयेगा तो उस वक्त के मनुष्य तो उसे प्रत्यक्ष देखेंगे ही? उसीप्रकार इस क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं हैं परंतु महाविदेह आदि क्षेत्र में सर्वज्ञ हैं, ऐसा अनुमान से पक्का किया जा सकता है और यहाँ जो अनुमान से पक्का हो सकता है, वह वहाँ के लोगों को तो प्रत्यक्ष है। इसप्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है। सर्वज्ञ के निश्चय करने में निश्चय से तो अपने स्वभाव का निश्चय करना है कि मेरा स्वभाव तो इतना पूर्ण है—इसप्रकार स्वभावोन्मुख होने पर पर्याय में अपूर्ण पलटा आ जाता है... और आत्मा आनंदपूर्वक सिद्ध के मार्ग पर अग्रसर होता है।

तीर्थ महिमा

(रत्नत्रयरूप भावतीर्थ द्वारा संसार को तरते-तरते जिन पवित्र संतों ने अपनी पवित्र चरणरज द्वारा भूमि को भी तीर्थरूप पूज्य बनाया, उन संतों को नमस्कार हो, उनके साधना भूमिरूप तीर्थ को नमस्कार हो।)

तीर्थ की महिमा अपार है, जिसकी यात्रा करते हुए अनेक आराधक जीवों का स्मरण हो जाता है और जिज्ञासुओं को आत्म-साधना की प्रेरणा मिलती है। तीर्थभूमि तो देवभूमि है; देव-गुरु-शास्त्र की पूजा में देव की पूजा को जो स्थान है, लगभग वही स्थान तीर्थपूजा का है। तीर्थयात्रा करनेवाला मुमुक्षु यात्रिक तीर्थयात्रा के समय संसार से पार किसी अद्‌भुत शांत वातावरण में अध्यात्मभावनाओं की लहरों का आनंद लेता है और फिर यदि वह तीर्थयात्रा किसी धर्मात्मा संत के साथ हो तो उसकी महिमा का क्या कहना ?

हमारे ग्रंथनायक इन पूज्य श्री कानजीस्वामी ने हजारों यात्रियों के साथ भारत के महान तीर्थों की उल्लास और भक्तिपूर्वक यात्रा कर जैनशासन में एक सुनहरी इतिहास जोड़ा है। यह सम्मेदशिखर और यह पावापुरी, यह राजगृही और यह चंपापुरी, यह गिरनार और यह शत्रुंजय, यह सिद्धवरकूट और यह बड़वानी, उन्नत और अकम्प जोगी बाहुबली और यह पावनधाम पोन्नूर, ये रत्नप्रतिमा और ये सिद्धांत ग्रंथ... यह अयोध्या और यह हस्तिनापुरी, यह शौरीपुरी और यह काशी... यह मथुरा और यह खंडगिरी, उदयगिरि, यह कुंथलगिरि-द्रोणगिरि और मुक्तागिरि—अहा कैसे कैसे ये तीर्थ!! और कैसी मोहक यह यात्रा!! इनका स्मरण मात्र इन साधक संतों और इन साधनाभूमिओं के प्रति कैसी आनंद की लहरें उत्पन्न करता है! अरे वाह! संतों तुम्हारी साधना! वाह तुम्हारी आत्मसाधना! वाह तुम्हारी तीर्थभूमि! और धन्य इसकी यात्रा! जगत् में संतों के दर्शन की महिमा अपार है; और तीर्थ के दर्शन की भी अपार महिमा है; एक एक की जब इतनी महिमा है तो तीर्थ और संत दोनों के दर्शन एक साथ हों, तब की महिमा समझाते हों ऐसे धन्य प्रसंग गुरुप्रताप से हमको इस यात्रा में मिले.. एक बार नहीं अपितु आठ बार!... आठ बार! जी.. हाँ.. आठ बार। दो बार बाहुबली—पोन्नूर यात्रा, एक बार सम्मेदशिखर यात्रा, तीन बार गिरनार यात्रा और दो बार शत्रुंजय यात्रा के समय-गिनकर देखिये कितनी यात्रा हुई! इसके बाद भोपाल की ओर गए थे, उस समय की सिद्धवरकूट, पावापुरी वगैरह की यात्रा तो इसमें गिनी ही नहीं गई।

अहा! स्वामीजी के साथ नये-नये तीर्थों की यात्रा करते वक्त नया-नया आल्हाद जगता

था। यात्रियों को ऐसा लगता कि किसी महान पुण्योदय के कारण ऐसा पवित्र योग प्राप्त हुआ है। ऐसे महान तीर्थों की यात्रा और ऐसे पवित्र संतों का योग—वास्तव में संसार के सभी क्लेशों को भुला देता है। संत की शरण में कि तीर्थ के आवास में जीवन आनंदित बनता है, आराधना का उत्साह जगता है, आराधक जीवों के प्रति बहुमान का भाव जागृत होता है। समयसार में तथा भगवती आराधना वगैरह में वीतरागी आचार्यों ने केवल सम्यग्दर्शन के धारक संत धर्मात्मा की भी कितनी अगाध महिमा समझाई है।—जिसके पढ़ने मात्र से ही मुमुक्षु का रोम-रोम पुलकित हो जाता है, तो ऐसे धर्मात्मारूप तीर्थ के साक्षात् दर्शन की तो बात ही क्या!! अहा, आत्मा का साक्षात्कार किये हुए जीवों की मुद्रा का दर्शन प्राप्त होना तो परमात्मा का साक्षात्कार होने के समान है। इस काल में तो साक्षात् भगवान के दर्शन की महिमा के बराबर ही धर्मात्मा के दर्शन की महिमा है। जिसप्रकार सम्मेदशिखर आदि पावन तीर्थों का दर्शन तीर्थंकर भगवन्तों का स्मरण दिलाता है। उसीप्रकार चैतन्य के साधक धर्मात्मा का दर्शन भी पूर्ण परमात्मपद का स्मरण कराकर उसे प्राप्त करने की प्रेरणा जगाता है। जिसप्रकार तीर्थों के दर्शन के लिये लोग (पहिले तो पैदल ही यात्रा होने के कारण मुश्किल से २-३ वर्ष में यात्रा पूरी होती थी) कितनी भी कठिनाइयों को होंसले के साथ जीतकर तीर्थयात्रा करते हैं, उसीप्रकार मोक्ष का यात्री आत्मार्थी जीव जगत की कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न हों, उन्हें होंसलेपूर्वक भोगकर धर्मात्मा का साक्षात्कार करता है.. उसकी छाया में रहता है। प्रत्यक्ष धर्मात्मा के प्रति परम प्रीतिभक्तिरूप उल्लासभाव जिसके हृदय में नहीं जगता, उसे तीर्थों के प्रति भी वास्तविक उल्लास नहीं जगता; क्योंकि तीर्थों का संबंध तो धर्मात्मा के गुणों के साथ होता है; जगत में जो कोई भी तीर्थ होते हैं, वे सभी किसी न किसी आराधक संतों के कारण तीर्थ बनते हैं। पुनः यदि आराधक संत जहाँ स्वयं साक्षात् विराजता हो—वह स्थान यदि तीर्थधाम बने तो इसमें क्या आश्चर्य! जहाँ धर्मात्मा विराजता है, वह तीर्थ ही है, इसकी वाणी भी तीर्थ है। अहा! ऐसा तीर्थ, और इसके साथ की तीर्थयात्रा—ऐसे डबल तीर्थ की प्राप्ति से हुए मुमुक्षु के हर्ष की क्या बात। विश्व के श्रेष्ठ सुयोग की प्राप्ति से आनंदित हुआ मुमुक्षु भव-भव के बंधनों को क्षण में तोड़ देता है और साधक भाव के पुरुषार्थ को प्राप्त करता है।

संत और तीर्थों की कितनी ही महिमा गायी जाये परंतु जब तक इनका साक्षात् संबंध नहीं होता, तब तक सच्चा लाभ नहीं मिल सकता। संत समागम की और उनके साथ की तीर्थ यात्रा का सच्चा मजा कभी कभी अपने को चखाकर स्वामीजी ने जीवन भर याद रहे ऐसा जो आनंद दिया है और जो अभी दे रहे हैं, वह वास्तव में उनका महान् उपकार है।

वैराग्य-वाणी

[परमोपकारी पूज्य स्वामीजी के वैराग्य प्रेरक, अडिग उत्साह से भरे हुए वचनों से धर्म जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी कुछ संकलन किया है, जो वाणी सबको शांतरस का पान कराके समाधान देगी]

आस्रव को गिरा देनेवाला यह धुनर्धर—सम्यग्दृष्टि बाणावली भेदज्ञान के टंकार करता हुआ झट-झट शरीर-मन-वाणी को और राग को भेदकर आत्मा से भिन्न करता है।—ऐसे भेदज्ञान का बारम्बार विचार करना चाहिये। धनुष की टंकार करता हुआ भगवान आत्मा जागृत हुआ, वहाँ राग भागा... शरीर तो कहीं अलग ही रह गया! शरीर तो वस्तु ही पृथक् है; उसका और तेरा क्या संबंध है ?

शरीर निर्बल होता जा रहा है, परंतु आत्मा में अपूर्व सबलता रखना। आत्मा में जो सबलता है उसका (आत्मा की अनंत शक्ति का) विचार करना, और शरीर के आड़े भिन्नता का बाँध-बाँध देना। अंतर में चैतन्य सम्राट विराजमान है, वह महान चैतन्य परमेश्वर है, उसका विचार-मनन करना। भीतर भगवान आत्मा आनंद का सागर उमड़ रहा है। आत्मा में जो आनंद है, उसकी रुचि और दृढ़ विश्वास होना चाहिये। आत्मा की और आस्रव भावों की जहाँ एकता नहीं है, वहाँ शरीर के साथ एकता की तो बात ही कहाँ रही ?

भगवान महावीर मोक्ष पधारे... अब समश्रेणी से जिस स्थान में गये हैं, वहाँ सिद्धालय में सादि अनंतकाल तक... अनंतकाल तक एक ही स्थान में पूर्णानंदरूप से ज्यों के त्यों रहेंगे। संसार भ्रमण में तो क्षण में यहाँ और क्षण में दूसरी गति में... यहाँ से वहाँ परिभ्रमण होता था, एकस्थान पर स्थिरता नहीं थी; अब आत्मा अपने में पूर्ण स्थिर होने से सादि-अनंत एक ही क्षेत्र में स्थिर रहता है—ऐसा स्मरण करके उसकी भावना भाने जैसी है। शरीर तो रोग का घर है; उसमें से आत्मा को भिन्न ज्यों का त्यों निकाल लेना चाहिये। प्रथम उसे दृष्टि में और ज्ञान में पृथक् कर लेना चाहिये।

आत्मा में तो वीरता भरी है, वह तो शूरवीर है। शरीर छूटने की तैयारी हो तो उसे रखने का

क्या काम है ? आत्मा को शरीर की आवश्यकता नहीं है, वह जाता है, तो भले जाये... सिंह खा रहा हो तो भले ही खा जाये... मुनि को क्षोभ नहीं होता... वह तो मानों मित्र मिल गया!—ऐसी अपूर्वदशा कब आयेगी—उसकी भावना भायी है। यह तो संसार है... शरीर का तो ऐसा ही चलता रहता है... वास्तव में तो आत्मा का करना है।

मृत्युकाल में जीवन भर के अभ्यास का योगफल आता है; उस समय भेदज्ञानपूर्वक या उसकी भावनापूर्वक शांति से शरीर का त्याग करता है वही सच्चा समझदार है।

आत्मा में अपार सामर्थ्य है... 'ज्ञ' स्वभाव... सर्वज्ञस्वभाव... अपार स्वभाव से आत्मा भरपूर है; जिसका 'ज्ञ' स्वभाव है, उसके जानने की सीमा कैसी! जगत को मृत्यु का भय है, परंतु ज्ञानी को तो आनंद की मौज है। मरण किसका ? आत्मवस्तु शाश्वत् है, उसकी प्रतीति हुई है, वहाँ मरण का भय निकल गया है। कौन जन्मे और कौन मरे ? शरीर और आत्मा की भिन्नता का जो अभ्यास किया, उसके प्रयोग का यह अवसर है।

सामने आस्रव योद्धा है और यहाँ ज्ञानयोद्धा है। सम्यग्दृष्टि धनुर्धर भेदज्ञानरूपी बाणों द्वारा आस्रवों को जीत लेता है।—ऐसे ज्ञान का विचार करना। आत्मा के सिवा अन्य कोई शरणभूत नहीं है। यह तो आस्रवों के विरुद्ध संग्राम है, आत्मा को संग्राम के लिये तैयार रखना।

शरीर त्यागपत्र दे रहा है, तो भले जाये; आत्मा तो अविनाशी अकेला है। देखो न, एक बार गाया था—

'आतमराम अविनाशी आया अकेला,
ज्ञान और दर्शन है तेरा रूप तो...
बहिर्भाव स्पर्श करें नहि आत्म को,
सचमुच ही वह ज्ञायक वीर कहाय सो...'

बस, एक ही बात! देखो तो सही, ऐसे आत्मा को पहिचाने, उसे ज्ञायक-वीर कहा जाता है। यह तो वीतरागता का मार्ग है।

आत्मा कहीं से अकेला आया और सब कुटुम्ब परिवार-इकट्ठा हुआ... फिर सब बिखर जायेगा; शरीर के परमाणु भी बिखरकर पृथक् हो जायेंगे। ऐसा यह सब पक्षियों का मेला समान है। शरीर के रजकण एकत्रित होते हैं और उनका काल पूरा होने पर बिखर जायेंगे। चैतन्यतत्त्व अकेला, वह अविनाशी है। यह सब संयोग नाशवान हैं।

आत्मा के विचार रखना... आत्मा है, वह ज्ञान है। योगसार में कहते हैं कि—'सर्व जीव हैं ज्ञानमय।' आत्मसिद्धि में भी आता है कि—'सर्व जीव हैं सिद्ध सम।' नित्य ज्ञानमय है, वही आत्मा है, शेष सब झंझट हैं, वे तो आते-जाते रहते हैं; राग भी आता-जाता है। आत्मा नित्य स्थायी ज्ञान.. ज्ञान.. ज्ञानरूप रहता है।—ऐसा जानना, उसमें सच्चा समभाव है। जहाँ-जहाँ ज्ञान, वहाँ-वहाँ आत्मा।—ऐसा अविनाभावसंबंध है। रागरहित आत्मा हो सकता है, परंतु ज्ञानरहित नहीं हो सकता।

आत्मा पर में और विकल्प में भटकता है; वह अपने स्वभावगृह में आकर रहे, वही सच्चा गृह प्रवेश कहा जाता है। आत्मा इन्द्रियों से नहीं जानता और वह इन्द्रियों से जाना भी नहीं जाता। ज्ञान से ऐसा आत्मा ज्ञात होता है; वह अपने भीतर ही है, परंतु 'अपने नयनों के आलस से, मैंने हरि को देख न पाया।' दृष्टि करनेवाला अपने में दृष्टि न करे और पर में देखता रहे तो उसमें शांति कहाँ से प्राप्त होगी ?

शरीर सूख जाये, वह तो क्षणभंगुर है। एक आदमी का शरीर भाषण करते-करते छूट गया। एक दृष्टान्त है कि शूरवीर राजा हाथी पर बैठा है, सामने से बाण छूटता है और शरीर छिद जाता है... परंतु राजा गिरता नहीं है और अंत में शरीर बचेगा नहीं—ऐसा लगने पर हाथी के हौदे में बैठा-बैठा ही संयम-भावना में लीन हो जाता है.. उसीप्रकार प्रतिकूलता और परीषहों के बाणों पर बाण आयें, तथापि धर्मी पुरुषार्थपूर्वक सामने खड़ा रहकर उन्हें झेलता है... अपने मार्ग से च्युत नहीं होता। ज्ञानस्वरूप आत्मा आनंदमूर्ति अकेला है, उसका लक्ष बारम्बार करना... उसकी डोर बाँध लेना... जैसे मकड़ी पानी में नहीं चल सकती; इसलिये अपनी लार की डोरी बाँधकर ऊपर सरसराती चली जाती है; उसीप्रकार चैतन्य की रुचि की डोर बाँध ली हो तो आत्मा सरसराता हुआ उस मार्ग पर चला जाता है।

उपयोग बराबर रखना चाहिये, सावधान रहना चाहिये। शरीर का तो होना होगा सो होगा। शरीर का क्या करना है ? कालरूपी सिंह को उसकी आवश्यकता हो तो भले ही ले जाये.... उसमें आत्मा को क्या ? यद्यपि जब समय आ पहुँचे, तब काम कुछ कठिन है, परंतु समता रखना चाहिये। शरीर में साता हो, तब कठिनाई मालूम नहीं होती, परंतु जब तीव्र असाता आ जाये और प्रतिकूल प्रसंग हो, तब उससे जूझने के लिये आत्मा को तीव्र पुरुषार्थ चाहिये।

अरिहंत प्रभु के कहे हुए भाव को आत्मा में धारण कर रखना। शरीर से और राग से भिन्न

ऐसे आत्मभाव को धारण करनाए सो धर्म है, वह मंगल है। धवला में श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं कि आत्मद्रव्य स्वयं मंगलरूप है, तू स्वयं मंगल है। चिदानदंस्वरूपी भगवान आत्मा अनादि-अनंत मंगलरूप है। राग होता है, परंतु आत्मा उसका ज्ञाता है—ऐसे आत्मा के विचार में रहना चाहिये। आत्मा ज्ञान-आनंदमय और राग से बिल्कुल भिन्न है; उसका विचार, उसका मनन और मंथन करनेयोग्य है। **शरीर में गड़बड़ी हो, उस पर लक्ष न करके ज्ञानानंदस्वरूप का लक्ष करना... भिन्नता की भावना रखना... स्वसत्तावलम्बी उपयोग, वह आत्मा का स्वरूप है, उसके विचार करना।**

शरीर में निर्बलता आ जाये, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जायें, उससे कहीं आत्मा की विचारदशा में बाधा नहीं आती। आत्मा कहीं इन्द्रियों से नहीं जानता और न इन्द्रियों द्वारा ज्ञाता होता है। आत्मा तो ज्ञानमूर्ति है, वह ज्ञान से ही (इन्द्रियज्ञान से नहीं, किंतु अतीन्द्रिय ज्ञान से) ज्ञात होता है। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन...' के विचार करना चाहिये। देह की स्थिति अपने अधिकार की बात नहीं है, परंतु अंतर के विचार, वह अपने अधिकार की बात है। अपना स्वरूप कैसे प्राप्त हो, उसी के विचारों का मंथन होना चाहिये।

अरे, वर्तमान में देखो न! पढ़े-लिखे भी 'जीवित शरीर से धर्म होता है' ऐसा मानकर इस मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो रहे हैं। अमृतस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं अपने को भूलकर जड़ कलेवर में मोहित हुआ है... उसकी क्रिया को वह अपनी मानता है।—क्या किया जाये!

शरीर की हालत शरीर सँभालेगा, अपने को अपने विचार में रहना चाहिये। जड़ शरीर का स्वामी आत्मा नहीं है। जड़ का स्वामी तो जड़ होता है; चेतन, चेतन का स्वामी होता है। सर्वज्ञस्वभावी आत्मा इन्द्रियों से या अकेले अनुमान से ज्ञात नहीं हो जाता; स्वसन्मुखता से ही वह ज्ञात हो, ऐसा है। अपने में भीतर संपूर्ण वस्तु विद्यमान है, उसमें उत्कृष्ट साधन अर्थात् 'करण' नाम का स्वभाव है, इसलिये वह स्वयं ही साधन होकर परिणमित होती है; अन्य साधन ही कहाँ था?

एक वस्तु की दूसरी वस्तु किंचित भी नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में (अपने-अपने गुण-पर्याय में) मग्न है, वहाँ कौन किसका करे?

यह शरीर तो धर्मशाला समान है; आत्मा को उसमें रहने की अवधि मिली है। अवधि पूरी होते ही अविनाशी आत्मा अन्यत्र चला जायेगा। अरे, अविनाशी आत्मा को बारम्बार ऐसे घर बदलना पड़ें, वह कहीं शोभा देता है?

शरीर तो फटफट (मोटर साइकिल) जैसा है; उसमें तो फड़फड़ाहट ही होगा न? शांति तो आत्मा के स्वरूप में है, उसका प्रेम करना। आत्मा का प्रेम छोड़कर परभाव का प्रेम करना, वह आत्मा के प्रति महान क्रोध है। शरीर में फड़फड़ाहट हो, उस पर लक्ष नहीं करना चाहिये। ज्ञानपरिणति का आधार कहीं राग नहीं है। राग के साथ या शरीर के साथ ज्ञानपरिणति को क्या संबंध है? शरीर ऐसा रहे तो ठीक, और ऐसा रहे तो ठीक नहीं—ऐसा कुछ भी आत्मा में नहीं है। शरीर की जो पर्याय होती है, वह यथायोग्य ही है। उससे भिन्नता की भावना रखना चाहिये। आत्मा भिन्न ही है। पृथक्.... का... पृथक्!

शरीर गिरता है तो गिरो... वह तो गिरना ही है; आत्मा का कहाँ नाश होना है? आत्मा अनादि है; शरीर बदले तो उससे कहीं आत्मा दूसरा नहीं हो जाता। विभाव में स्वभाव नहीं है और स्वभाव में विभाव नहीं है। ज्ञान में राग भी नहीं है, फिर शरीर तो कहाँ रहा? कर्म या नोकर्म भी ज्ञान में नहीं हैं। संवर अधिकार में इस बात का अच्छा भेदज्ञान कराया है। अरे, परसत्ता का अवलंबन करनेवाला परालम्बी उपयोग भी निश्चय से आत्मा का स्वरूप नहीं है; स्वसत्ता का अवलंबन करनेवाला स्वालम्बी उपयोग ही सच्चा आत्मा है। यह प्रयोग में लाने का अवसर प्राप्त हुआ है।

आत्मा के निरालम्बी उपयोग का कोई हरण नहीं कर सकता। शरीर में रोग आये या अन्य कोई प्रतिकूलता आये, उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा के उपयोग का घात कर दे। जिसका किसी से घात न हो, ऐसे शुद्ध उपयोगस्वरूप आत्मा है; आत्मा सचमुच शुभाशुभपरिणामस्वरूप नहीं है। ऐसे आत्मा के विचार रखना चाहिये। आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, वह इन्द्रियों द्वारा सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है। दुःख तो क्षणिक कृत्रिम विकार है और आनंद आत्मा का त्रिकाल शाश्वत अकृत्रिम स्वभाव है। इसलिये आनंदस्वभाव की दृष्टि में आत्मा दुःख का भोक्ता नहीं है। ऐसे आत्मा को लक्ष में ले, वहाँ मृत्यु का भय कैसा? **जगत को मृत्यु का भय है, परंतु ज्ञानी को तो आनंद की मौज है।**

मैं तो ज्ञान हूँ—ऐसी श्रद्धा होने से ज्ञानी वज्रपात होने पर भी डिगते नहीं हैं और निजस्वरूप की श्रद्धा को नहीं छोड़ते। शरीर भले ही शिथिल हो जाये, परंतु आत्मा के भाव वही रखना चाहिये।

ज्ञान का अचिंत्य माहात्म्य है। अनंत आकाश को तथा अनंत काल को ज्ञान निगल जाता है। अनंत अमाप आकाश के पूर्ण अस्तित्व का निर्णय श्रुतज्ञान कर लेता है, तब रागरहित पूर्णज्ञान में

कितनी शक्ति होगी ? ऐसे-ऐसे तो अनंत गुणों सहित तत्त्व भीतर विद्यमान हैं;—उसके विचार में रहना चाहिये। यह शरीर का ढाँचा तो अब छुट्टी माँगे, ऐसा है परंतु भीतर चैतन्य का ठोस पिण्ड अविनाशी विद्यमान है।

भेदज्ञान द्वारा दारुण विदारण करके—उग्र पुरुषार्थ द्वारा राग को आत्मा से अत्यंत भिन्न करना चाहिये। मेरे जागृत चैतन्यस्वरूप में राग नहीं है और राग में चैतन्यप्रकाश नहीं है, राग तो अधर का क्षणिक भाव है, उसकी जड़ें कहीं गहरी नहीं हैं।

'नमः समयसाराय....' इस मंगल श्लोक में आचार्यदेव ने शुद्ध आत्मा का अस्तित्व, उसका ज्ञानगुण, उसकी स्वानुभूतिरूप निर्मलदशा और केवलज्ञान का सामर्थ्य—यह सब बतला दिया है। एक ही श्लोक में सब कुछ भर दिया है। ऐसे विचार में रहना... बाह्य में जो होना हो सो होगा।

समयसार में कहते हैं कि—घोर-प्रचंड कर्म उदय में आने पर भी धर्मी जीव अपने स्वरूप से डिगते नहीं हैं। सातवें नरक की वेदना के परिषह में भी सम्यक्त्वी धर्मात्मा निजस्वरूप की श्रद्धा को नहीं छोड़ते। 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसी श्रद्धा से, ज्ञानी वज्रपात होने पर भी डिगते नहीं हैं। यहाँ तो क्या प्रतिकूलता है ? जड़ में फेरफार हो तो उससे आत्मा को क्या है ? संसार तो ऐसा ही है।

आत्मा का स्वभाव स्वसहायी है, वह स्वयं अपनी शरण है; अन्यत्र कहीं शरण नहीं है, अन्य कोई सहायक नहीं है। आत्मा के सिवा अन्य कहीं दृष्टि डालने से शरण नहीं मिल सकती। चैतन्यस्वभाव-सन्मुख दृष्टि लगाकर उसी की शरण लेनी चाहिये। स्वशरण ही सहायी है; दूसरा कौन शरण देगा ? शरीर के रजकण बदलने लगें, वहाँ सगे-संबंधी तो पास खड़े-खड़े देखते रहते हैं... करें भी क्या ? .....जगत में कोई शरण नहीं है। चैतन्य का ध्यान रखना। चैतन्य का चिंतन ही एक उद्धार का मार्ग है; अन्य किसी मार्ग में उद्धार नहीं है।

संतों की वैराग्य झरती वाणी मुमुक्षु को सर्व प्रसंगों पर अत्यंत उल्लास प्रेरक होती है। अरे, और तो क्या कहें, परंतु संत-गुरुजनों की उपस्थिति मृत्युकाल की वेदना को भी भुला देती है और आत्मा को धर्म में ऐसा उत्साहित करती है कि अविनाशी आतमराम का रटन करते-करते शरीर छूट जाता है। जीवन में ऐसे संतों का सुयोग किसी महान भाग्य से मिलता है... और उसमें भी अंतिम समय, धर्मात्मा की उपस्थिति में, चैतन्य की भावनापूर्वक देह छूटे, वह तो महान सद्भाग्य है। इसीलिये एक मुमुक्षु कवि ने उस अवसर की भावना भायी है:—

धर्मात्मा निकट हो, चर्चा धरम सुनावें,
वे सावधान रक्खें, गाफिल न होने देवें;
रत्नत्रय का पालन, हो अंत में समाधि,
'शिवराम' प्रार्थना है, जीवन सफल बनाऊँ।

हम भी ऐसी भावना की पुष्टि करें कि—

बोधि-समाधि हे प्रभो! हो संतजन के चरण में,
जीवन में या अंतिम समय, छूटें नहीं प्रभु ये कभी।

जन्मधाम उमराला ग्राम में
स्वामीजी का प्रवचन

उमराला गाँव भावनगर राज्य में बल्लभीपुर के पास ५५०० जनसंख्या आबादीवाला कस्बा है। यहाँ जिनमंदिर तथा स्वाध्याय मंदिर है। दिनांक २-४-६४ को गुरुदेव अपने जन्मधाम उमराला ग्राम में पधारे और वहाँ की सभी जनता ने आनंदपूर्वक स्वागत किया। दोपहर को प्रवचन में लगभग एक हजार श्रोता एकत्रित हुए थे। गुरुदेव ने सरल भाषा में—ग्रामीण जनता भी समझ सके ऐसा—उपदेश दिया था। वह यहाँ दिया जा रहा है।

यह समयसार एक आत्मशास्त्र है। आत्मा में पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण आनंद शक्तिरूप से भरा है, उसकी प्रतीति करके जिन्होंने उसमें से पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की, वे सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं। यह प्रत्येक आत्मा भी ऐसे ही स्वभाववाला है, परंतु स्वयं अपने को भूलकर अनंतकाल से चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है। यह आत्मा देह से और विकार से भिन्न क्या वस्तु है, उसकी प्रतीति के बिना सब साधना झूठी है। आत्मा सच्चिदानंदस्वरूप है; उसका कभी नाश नहीं होता। यह जो शरीर दिखाई देता है, वह कहीं आत्मा नहीं है; शब्द बोले जाते हैं, वह भी आत्मा नहीं है। यह जीव जो

पुण्य-पाप की शुभ-अशुभ वृत्ति करता है, उसके फल में उसे अनुकूल या प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती है, परंतु उससे कहीं चौरासी के अवतार का अंत नहीं आता। आत्मा की शक्ति में विद्यमान पूर्ण आनंददशा प्रगट हो, उसका नाम मुक्ति है। एकबार ऐसी मुक्ति होने के पश्चात् पुनः अवतार नहीं होता; परंतु उसके लिये एक बार आत्मा के स्वरूप को समझना चाहिये। इसलिये कहते हैं कि—

जो स्वरूप समझे बिना, पाया दुःख अनंत,
समझाया वह पद नमों, श्री सद्गुरु भगवंत॥

जिसे ज्ञान हुआ, आत्मा की प्रतीति हुई, वह गृहवास में हो, तब भी उसका अंतर संसार से भिन्न है। जिसप्रकार नारियल में अंदर का सफेद गोला, छाल और नरेली से पृथक् है; उसीप्रकार धर्मी अपने चैतन्यपिण्ड को शरीर से और कर्म से पृथक् जानता है। अरे, हाथी जैसा शरीर हो या चींटी जितना हो—दोनों शरीर यहीं पड़े रहेंगे और आत्मा उनसे पृथक् है, इसलिये अन्यत्र चला जायेगा। जिसप्रकार नारियल का सफेद गोला ऊपर के लाल छिलके से भी पृथक् है, उसीप्रकार लाल छिलके समान राग से चैतन्य-गोला भी पृथक् है। परवस्तुएँ तो आत्मा से पृथक् ही हैं, वे कहीं आत्मा के साथ नहीं रहतीं, और आत्मा का संसार कहीं उनमें नहीं रहता। आत्मा के ज्ञानानंद स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर हो, उसका नाम धर्म है।—ऐसा धर्म जीव ने कभी एक क्षणमात्र भी नहीं किया। जो करना है, वह जीव ने कभी नहीं किया और जो नहीं करने जैसा है, उसी के कर्तृत्व में अनादिकाल से लगा है। जिसप्रकार मिसरी का मीठा स्वभाव उससे पृथक् नहीं है, उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव आत्मा से पृथक् नहीं है। परंतु जैसे—'मिसरी'—यह तीन अक्षर मिसरी नामक वस्तु से पृथक् है, उसीप्रकार 'आत्मा' ऐसे ढाई अक्षर आत्मा वस्तु से पृथक् हैं। शब्दों में आत्मा नहीं है और आत्मा में शब्द नहीं हैं।

यहाँ ५९वें कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि जिसप्रकार हंस दूध और पानी का पृथक् अनुभव करता है, उसीप्रकार भेदज्ञानी धर्मात्मा ज्ञान को और विकल्पों को भिन्न जानता है; वह ज्ञानी विकल्पों के कर्तारूप से किंचित् परिणमित नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।

इस उमराला से लगभग १५२५ मील दूर पोन्नूर नाम का एक पर्वत है, उस पर एक महामुनि रहते थे, जिनका नाम कुन्दकुन्दाचार्यदेव था। अतीन्द्रिय आनंद की मस्ती में रहनेवाले उन संत ने इस समयसार शास्त्र की रचना की है और फिर अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इस पर कलशों की रचना करके मानों कलश चढ़ाया है। यह अन्तर्दृष्टि को समझानेवाला अलौकिक शास्त्र है; इसमें ज्ञान

और विकार का भेदज्ञान कराया है। जिसप्रकार सोने का पारखी धूल धोया (धूल को धोनेवाला) धूल और सोने को अलग-अलग करके सोना प्राप्त कर लेता है। लेकिन ऐसा कौन कर सकता है? कि जिसे सोने की पहिचान हो। उसीप्रकार अंतर में ज्ञान और राग की भिन्नता का विवेक करनेवाला धर्मात्मा, सोने के समान चैतन्यभाव और धूल के समान रागादि परभावों को भिन्न जानता है। छोटे बच्चे भी आत्मा की जिज्ञासा कर सकते हैं। कोई कहे कि आँखे मींचकर विचार करते हैं, वहाँ तो अंधकार दिखायी देता है, आत्मा दिखायी नहीं देता।—तो उससे कहते हैं कि भाई— आँखें बन्द करने से 'यह अंधकार दिखायी देता है'—ऐसा जाना किसने?—जाननेवाला कौन है? जो जाननेवाला-ज्ञाता है, वह कहीं अंधकारस्वरूप नहीं है। ज्ञाता तो चैतन्य प्रकाश है और वही तू है।

आत्मा की यह बात सब समझ सकते हैं। सिंहादि पशु भी समझ सकते हैं। एक बड़ा हाथी था... रावण के हजारों हाथियों में वह सबसे विशालकाय पट्टहस्ती था। उस हाथी पर बैठकर एक बार राम-लक्षण आदि चारों भाई केवली भगवान के दर्शन करने गये; और वहाँ उन मुनि के उपदेश से वह हाथी भी वैराग्य एवं केवल ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को प्राप्त हुआ; उसे पूर्व भव का भी स्मरण हुआ था। इसलिये जो जीव समझना चाहे वह समझ सके ऐसी यह बात है।

भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अंतर आतमा धोवे निज गुण चीर॥

जिसप्रकार साबुन और पानी द्वारा कपड़ों का मैल छँटता है, उसीप्रकार भेदज्ञानरूपी साबुन और समरसरूपी निर्मल पानी द्वारा अन्तरात्मा जीव अपने गुणों को धोकर निर्मल करता है... भेदज्ञान के बिना विकार की मलिनता दूर नहीं हो सकती। भाई, तू जब तक अपना मूल्यांकन नहीं करेगा और दुनिया की महिमा दूर नहीं होगी, तब तक तेरे आत्मा का हित नहीं होगा। इसलिये चिदानंद तत्त्व की प्रतीति करना ही कर्तव्य है।

अनंतकाल में प्राप्त हुए इस चिंतामणि समान मानव-जीवन को प्राप्त करके रे जीव! तू विषय-भोगों से विरक्त हो... और चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का आस्वाद बन!

(उजमबा स्वाध्याय गृह : उमराला)

सोनगढ़ साहित्य आगमानुकूल है

(२१ उद्धरणों की वास्तविकता एवं विवेचन)

गत ३० वर्षों में दिगम्बर जैन समाज में सोनगढ़ के श्रीकानजीस्वामी एवं उनके आध्यात्मिक प्रवचन बहुत आकर्षण के केंद्र रहे हैं। उनके आध्यात्मिक प्रवचनों से एक आध्यात्मिक क्रांति आ गई। इस क्रांति का यह परिणाम हुआ कि जिन्होंने केवल बाहरी क्रियाकलाप को ही धर्म मान रखा था, उन्हें अपना आसन डगमगाता दिखा; इसलिये उन्होंने अपनी पूरी ताकत लगाकर उनका विरोध करना प्रारंभ किया।

उन्होंने इस विरोध को आगम की सुरक्षा का नाम दिया। उन्होंने स्वामीजी के समयसार, मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रवचनसार, नियमसार आदि के कथनों को तोड़ मरोड़कर, बिना प्रसंग बताए इसरूप में प्रस्तुत किया कि साधारण समाज यह समझे कि स्वामीजी आगम के विपरीत कथन करते हैं। इसलिये 'ऐसे तथाकथित आगमविरुद्ध कथनों' का विरोध करनेवाला 'धर्म संरक्षक' की श्रेणी में आ ही जावेगा।

ऐसे धर्म संरक्षकों की शास्त्री परिषद ने श्रीमहावीरजी में हुई प्रतिष्ठा के अवसर पर एक प्रस्ताव पास किया बताते हैं कि 'श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ से प्रकाशित साहित्य में दिगंबर जैन सिद्धांत घातक कथन प्रचुर मात्रा में पाया जाता है (जिनमें से २१ का नामांकन भी किया है, यह बात अलग है कि उनमें से ५ कथनों का कोई स्रोत नहीं बताया)। अत: उन प्ररूपणाओं को दिगम्बर जैन सिद्धांत की मान्यता न माना जावे और दिगम्बर जैन समाज एवं पंचायतियाँ ऐसी सिद्धांत विघातक प्ररूपणाओं से सावधान रहें।'

इस प्रस्ताव के संबंध में भी समाचार पत्रों में यह प्रकाशित हुआ था कि यह प्रस्ताव वहाँ प्रस्तुत ही नहीं किया गया था। हाँ, कुछ व्यक्तियों ने वहाँ बिना प्रेस का नाम दिए इस प्रस्ताव को छपाकर वितरण किया था। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उस प्रतिष्ठा में गौमुखी देवियों आदि की प्रतिष्ठा की गई थी, उसका शास्त्री परिषद के किसी विद्वान ने विरोध नहीं किया किंतु उनकी दृष्टि तो सोनगढ़ के विरोध तक सीमित थी क्योंकि उनके बढ़ते हुए प्रचार से भट्टारकी युग समाप्त होने की आशंका थी। इस ही प्रस्ताव को बड़े-बड़े पोस्टरों के रूप में छपाकर सर्वत्र प्रचारित किया गया है और उसके द्वारा सभी समाज के संगठनों को आह्वान किया है कि वे गाँव-गाँव में सोनगढ़ का विरोध करने के लिये अलग संगठन बनावें।

इस प्रस्ताव का अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं है। यह अनुभूत तथ्य है कि जिस सत्य का जितना अधिक बहिष्कार किया जाता है, लोग उस सत्य की ओर उतने ही अधिक आकर्षित होते हैं। किंतु मैं देख रहा हूँ कि कुछ व्यक्ति इस प्रस्ताव की आड़ में स्थान-स्थान पर सामाजिक एकता भंग करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसका उदाहरण इंदौर एवं सनावद के क्रियाकलाप सामने हैं। ऐसे क्रियाकलापों की आवृत्ति अन्यत्र न हो तथा जन साधारण वास्तविकता समझे; इसलिये सोनगढ़ के उद्धृत २१ कथनों का पूर्ण विवेचन करना आवश्यक है।

इन २१ कथनों में निम्न कथनों का तो प्रस्ताव में आधार ही नहीं बताया गया है। अत: उन पर विचार ही नहीं किया जा सकता—

१५ नियतिवाद

१७ कार्यसिद्धि में निमित्तकारण अकिंचित्कर है।

१८ व्यवहार चारित्र त्याज्य है।

१९ व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है।

२० केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान नहीं होता।

शेष १६ कथनों का विवेचन आगे किया जायेगा। वस्तुत: प्रसंग बिना बताये, वाक्य को तोड़-मरोड़ कर ये कथन प्रस्तुत किये गये हैं, इसलिये इन कथनों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इनकी मूल भूमिका एवं प्रसंग, नयपद्धति पूर्णरूप से समझी जाये।

निश्चयनय की पद्धति के कथन की व्यवहारनय से परीखा करना वक्ता के प्रति अन्याय है एवं अपने तथा अपने श्रोताओं को धोखा देना है।

इन कथनों की प्रासंगिक अपेक्षाओं को ध्यान में रखे बिना परीक्षा करना समीचीन नहीं होगा।

पाठक देखेंगे कि प्रस्ताव में उल्लिखित कथन अपने प्रसंग विशेष में आगम सम्मत हैं। उनके समर्थन में आगम के उद्धरण दिए गये हैं।

अत: यह मेरी समझ में नहीं आता कि शास्त्री परिषद के उपस्थित २५-३० विद्वानों ने इन कथनों को दिगम्बर जैन सिद्धांत घातक कैसे मान लिया ? इसके निम्न कारण हो सकते हैं—

१. उन्होंने सोनगढ़ से प्रकाशित पूरा साहित्य नहीं पढ़ा किंतु कुछ व्यक्तियों के भ्रामक प्रचार के चक्कर में आ गये।

२. उन्होंने सोनगढ़ के इन कथनों का दिगम्बर अम्नाय में प्राप्त आगम से मिलान नहीं किया (अन्यथा वे जान जाते कि ये कथन आगमानुकूल हैं।)

३. मुनिभक्त कुछ गृहस्थ विद्वान तो संभवतः वर्तमान के कुछ मुनियों के आदेशानुसार समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथ पढ़ते ही नहीं होंगे। अतः वे उन महान ग्रंथों के सिद्धांतों से सम्मत सोनगढ़ के कथनों को सिद्धांत घातक कहें तो आश्चर्य क्या ?

यह विवेचन उन व्यक्तियों के लिये है जो बिना किसी पूर्वाग्रह के सोनगढ़ से प्रकाशित साहित्य के लिये जिज्ञासाबुद्धि रखते हैं। साथ ही इस विवेचन के आधार पर विद्वद्गण पुनः विचार करें और देखें कि शास्त्री परिषद का उक्त प्रस्ताव साधार है या निराधार ?

इसी प्रसंग में यह भी बता देना समीचीन होगा कि शास्त्रीय मंतव्यों के अनुसार शुभोपयोग को हेय मानते हुए भी सोनगढ़वाले देवपूजा, दान, प्रतिष्ठा, तीर्थ, शास्त्रभक्ति आदि के कार्यों में सच्ची रुचि लेते हैं। जिसका सही मूल्यांकन तो वहाँ जाने से ही हो सकता है या कभी-कभी सोनगढ़वाले यात्रा प्रसंगों में अन्यत्र आये वहाँ उनकी भक्ति आदि के कार्यक्रम देखनेवाले जानते हैं।

कभी-कभी विरोधी पक्ष की ओर से यह प्रचार किया जाता है कि अमुक व्यक्ति सोनगढ़ के प्रभाव में आकर व्रतादि से च्युत हो गया। इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि यदि कोई अमृत का समीचीन उपयोग न कर सके तो अमृत का क्या दोष ?

अनेक व्यक्ति व्रतादि ग्रहण कर भ्रष्ट होते हैं तो क्या व्रतादि नहीं ग्रहण करना चाहिये।

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि सोनगढ़ के साहित्य में पुण्य की हेयता बताई है, दान पूजादि को बंध का कारण बताया है; इसलिए लोग इन्हें करने से छोड़ देंगे। ऐसे भाई स्वामीजी के उन कथनों को क्यों भूल जाते हैं जिनकी प्रेरणा से (ऐसे कुछ प्रेरणास्पद कथन पुस्तिका के अंत में दिये गये हैं) गुजरात में २६ दिगम्बर जैन मंदिर बन गये एवं १५ स्थानों पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें हुईं। एवं लाखों की संख्या में दिगम्बर जैन साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित हुईं एवं सैकड़ों की संख्या में श्रावक तीर्थयात्रार्थ जाते हैं। सभी दिगम्बराचार्यों ने मोक्षमार्ग में पुण्य को हेय एवं दान पूजादि को बंध का कारण बताया है। और तो क्या सोनगढ़ के विरोधियों के इस युग के धर्म साम्राज्य दिवाकर (जो अर्हत् परमेष्ठी का एक नाम है) श्री शांतिसागरजी ने अपने अंतिम संदेश में भी कहा था—

'दान से, पूजा से, तीर्थयात्रा से पुण्यबंध होता है। हर धर्मकार्य से पुण्य का बंध होता है किंतु कर्म की निर्जरा का साधन आत्मचिंतन है।'

किंतु वे भाई ऐसा ही कथन करनेवाले कानजीस्वामी का विरोध करने में अपना अहोभाग्य समझ रहे हैं। क्या वे प्रकारांतर से अपने मान्य आचार्यों का विरोध नहीं कर रहे हैं? कृपया गंभीरतापूर्वक विचार करें।

इस विवेचन का वीतराग भाव से मनन करने का अनुरोध करना आवश्यक समझता हूँ। इस विवेचन में कहीं भूलचूक हो तो वीतरागभाव से लेखक को सूचित कर दें।

कथन नं० १

शरीर से आत्मा को भिन्न करने पर प्राण हत्या करने पर हिंसा नहीं होती, आत्मधर्म वर्ष १ अंक नं० ४, पृष्ठ २१; वर्ष-४, अंक-२, पृष्ठ १९ (जिस लेख को आज २० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।)

विवेचन—आत्मधर्म के उक्त अंक में ऐसा कथन नहीं मिलता किंतु तत्संबंधी लेख का पूर्ण अंश उद्धृत करता हूँ जिससे पाठक वास्तविकता समझें।

अहिंसा का स्वरूप

'अहिंसा परमो धर्मः' वाक्य का यह अर्थ है कि आत्मा शुद्ध ज्ञायक अखंड है, उसकी अंतर श्रद्धा करके उसमें एकाग्र रहना, इसी का नाम अहिंसा है, और वही परम धर्म है। दूसरे को न तो कोई मार सकता है और न जिला सकता है, केवल वैसे भाव करे, **दूसरे को मारने के भाव अशुभ-पाप भाव है और दूसरे को जिलाने के भाव शुभभाव-पुण्य है।** किंतु वह वास्तविक अहिंसा नहीं है। क्योंकि स्वयं दूसरे को न तो मार सकता है और न जिला सकता है, फिर यों मान लिया कि मैं दूसरे को मार या जिला सकता हूँ; इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने को पर का कर्ता माना; बस, इसी में स्वभाव की हिंसा है। लोग, परदया पालन को अहिंसा कहते हैं, सचमुच में वह अहिंसा ही नहीं है। सच बात तो यह है कि अधिकांश आदमी हिंसा अहिंसा की सच्ची व्याख्या ही नहीं जानते। उसकी सच्ची व्याख्या इस प्रकार है:—

लोग, जड़ शरीर और चैतन्य आत्मा को पृथक् कर देने को हिंसा कहते हैं। किंतु हिंसा की यह व्याख्या सत्य नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से भिन्न ही हैं। उन्हें पृथक् करने की बात औपचारिक है। आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायक शरीर से अभेद है। वह पुण्य-पाप की वृत्ति से रहित चैतन्य ज्ञानमूर्ति है। इस स्वरूप को न मानकर, पुण्य-पाप को अपना मान लिया, उसने अपने चैतन्य आत्मा को उसके ज्ञायक शरीर से पृथक् माना, यही स्वहिंसा है, अथवा अपने को भूलकर

पर में जितनी सुखबुद्धि मानी, उतनी स्वहिंसा ही है। कोई पर की हिंसा नहीं कर सकता, **मात्र मारने का पाप भाव कर सकता है।**

उपरोक्त आक्षेप में आत्मधर्म वर्ष ४, अंक नं० २, पृष्ठ नं० १८ का आधार भी बताया है यहाँ भी ऐसा कथन है ही नहीं किंतु पृष्ठ १२ में निम्न प्रकार है।

व्यवहार अभूतार्थ है इस बात का प्रकरण है—

निश्चय से तो ज्ञान ज्ञान में से ही आता है, देव-गुरु-शास्त्र के आधार से ज्ञान नहीं आता, इसप्रकार निश्चय का वाक्य सुनकर यदि कोई श्रवण-मनन-पठन के शुभभाव को छोड़ ही दे तो वह उल्टा अशुभभाव में लग जायेगा। सत् को समझने में पहले **सत्समागम-श्रवण, मनन इत्यादि शुभभावरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता।** फिर भी यह शुभराग ज्ञान का कारण नहीं है। किंतु यदि कोई शुष्कज्ञानी निश्चयाभासी प्रथम भूमिका में उस शुभभाव में युक्त न हो तो अभी वह वीतराग तो हुआ नहीं है, इसलिये अशुभ में युक्त होगा और नीच गति में परिभ्रमण करेगा। ''यदि व्यवहार न बताया जाये तो परमार्थतः शरीर से जीव भिन्न कहा गया है, इसलिये जैसे भस्म को मसल देने में हिंसा नहीं होती, उसी प्रकार त्रस स्थावर जीवों को निःशंकतया मर्दन करने पर भी हिंसा का अभाव ही सिद्ध होगा, और ऐसा होने से बंध का भी अभाव होगा।''

यदि व्यवहार से शरीर और जीव का कोई भी संबंध न हो, तो ऐसी अवस्था में राग-द्वेष भी न हो, तो ऐसा विकल्प भी नहीं हो सकता कि 'प्रस्तुत जीव की हिंसा कर दी' किंतु प्रस्तुत जीव को शरीर पर राग है और इसलिये शरीर के साथ उसका निमित्त नैमित्तिक संबंधरूप व्यवहार है, तथा स्वयं भी अभी वीतराग नहीं हुआ है अर्थात् अवस्था में राग-द्वेष है, सो व्यवहार है, इसलिये प्रस्तुत जीव को मारने का विकल्प होता है। प्रस्तुत जीव को मारने का विकल्प उठता है, सो यह तेरा व्यवहार है। पर विकल्प भी कब उठता है कि प्रस्तुत जीव को शरीर पर ममताभाव है अर्थात् उसका शरीर के साथ निमित्त नैमित्तिक भाव वर्तमान में है, सो यह उसका व्यवहार है। उस व्यवहार को जाना, इसलिये प्रस्तुत जीव को मारने का भाव हुआ। निश्चय में हिंसा का विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि निश्चय से कोई जीव मरता नहीं है, जीव और शरीर भिन्न-भिन्न ही हैं, और जड़ को मारने में हिंसा नहीं होती, अर्थात् निश्चय में तो हिंसा का विकल्प तक नहीं होता। अब यदि व्यवहार ही न हो तो किसी को मारने का विकल्प ही न आये। मारने का विकल्प उठना ही व्यवहार है। अपने में और प्रस्तुत जीव में—दोनों में व्यवहार है, तभी विकल्प उठता है, यदि सवयं

वीतराग होगा तो मारने का विकल्प न उठता और यदि प्रस्तुत जीव वीतराग होता तो भी तुझे उसको मारने का विकल्प न उठता। कभी किसी को यह भाव नहीं उठता कि मैं सिद्ध को मार डालूँ, इसका यह कारण है कि सिद्ध वीतराग है, उनके व्यवहार का अवलंबन शेष नहीं है, यही कारण है कि सिद्ध भगवान के भी कभी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि मैं अमुक जीव को मारूँ। व्यवहार के अवलंबन के बिना विकल्प नहीं उठता। शरीर इत्यादि की क्रिया आत्मा कर सकता है, इस मान्यता को लोग व्यवहार कहते हैं; परंतु यह व्यवहार नहीं, वह मान्यता तो मिथ्यात्व है।

नोट—अहिंसा और हिंसा का वर्णन किस सुंदर ढ़ंग से किया है। उस कथन को न मानकर आगे-पीछे की संधि छोड़कर बीच में से मात्र एक छोटा सा वाक्य पकड़ कर उल्टा अर्थ करने से आत्मधर्म के उपरोक्त आगमानुकूल लेख मिथ्या एकान्त नाम को प्राप्त नहीं हो सकते।

इस प्रसंग में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या करनेवाले आगम के निम्न प्रमाण पठनीय हैं—

आधार नं० १—सूत्रजी में 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणंहिंसा' कहा है।

आधार नं०२—पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आचार्यदेव ने गाथा ४२-४३ में कहा है कि 'आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के हेतु से ये सब हिंसा ही हैं। अनृत वचनादि भेद केवल शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरणरूप कहे हैं; निश्चय से रागादि भावों का प्रगट न होना अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है, ऐसा जिनागम जैनसिद्धान्त का सार है।'

आधार नं०३—समयसार, गाथा २३८ से २४६ टीका में कहा है कि 'चेतन-अचेतन के घातमात्र से हिंसा नहीं है किंतु उपयोग में रागादि करना ही हिंसा है' मात्र बाह्य हिंसा, हिंसा नहीं है।

आधार नं०४—प्रवचनसार गाथा २१७ में कहा है कि बहिरंग हिंसा मात्र से बंध नहीं होता 'मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥२१७॥ अर्थ—जीव मरे या जिये, अप्रयत आचारवाले के (प्रमादचर्यावाले के) हिंसा निश्चित है; प्रयत के, समितिवान के बाह्य हिंसा मात्र से बंध नहीं है।

उक्त आधारों से सिद्ध होता है कि आत्मधर्म की अहिंसा हिंसा संबंधी पूर्ण व्याख्या आगमानुकूल ही है।

कथन नं० २

'जीव रक्षा, दया भावना परमार्थ से जीव हिंसा है'

आधार आत्मधर्म, वर्ष-४, अंक-१, पृष्ठ-१२

विवेचन—उपरोक्त वाक्य जीवदयारूप धर्म शीर्षक आत्मधर्म में लेख है जो पृष्ठ ११ से १३ तक पेरा नं० ३४ से ४२ तक है। उस लेख में निम्नप्रकार से कथन आया है।

पेरा नं० ३४, ४—जीवदयारूप धर्म

लोग जीवदया के नाम से शुभराग में धर्म मान रहे हैं परंतु जीवदया का यथार्थ स्वरूप समझते नहीं। **क्रोधादि कषाय के वश अपनी तथा पर जीव की हिंसा का भाव न करना, सो जीवदया है।** सबसे बड़ा क्रोध मिथ्यात्व है और यही वास्तव में बड़ी जीव हिंसा है। मिथ्यात्व को छोड़े बिना कभी भी जीव हिंसा नहीं रुक सकती। स्वजीव की हिंसा न करना ही मुख्य जीवदया है **और जब स्वयं क्रोधादिक के द्वारा स्वजीव की-अपने आत्मा की, हिंसा नहीं की, तब क्रोध के अभाव के कारण परजीव के मारने का भाव भी नहीं आया, इसलिये परजीव की दया भी आ जाती है।** परंतु स्वजीव की दया कब हो सकती है ? जो जीव पुण्य से धर्म मानता है, वह जीव, विकारभाव के द्वारा स्वभाव की हिंसा करता है। मेरा शुद्ध स्वरूप पुण्य-पाप रहित है, ऐसा जानने के बाद दया की शुभ भावना को वह छोड़कर जब स्वरूप में सावधान हो गया और शुद्ध ज्ञानचेतना के अनुभव में लीन हुआ, सो ही जीवदया धर्म है। अर्थात् इसमें भी चेतना का शुद्ध परिणाम ही धर्म सिद्ध हुआ। वास्तव में पर जीव को न तो कोई मार सकता है। किसी जीव को दु:ख नहीं देना चाहिये। इसमें स्वयं भी अन्तर्भूत है, इसलिये कषाय के भाव के द्वारा स्व को भी दु:खी न करना, सो वास्तव में दया है।

अशुभ परिणाम के समय स्वयं तीव्र दु:खी होता है और दया इत्यादि के शुभ परिणाम के समय भी जीव को आकुलता का ही अनुभव होता है, इसलिये वह दु:खी है।

अत: अशुभ और शुभ दोनों भावों से जीव की रक्षा करना अर्थात् **शुभाशुभरहित मात्र ज्ञानस्वभावरूप दशा करना, सो जीवदया है। जो जीव शुद्ध ज्ञानचेतना के द्वारा स्वरूप में एकाग्र हुआ, उस जीव के अशुभभाव-हिंसा के भाव होते ही नहीं अर्थात् वहाँ परजीव की दया स्वयं पाली जाती है।**

यदि परजीव की दया पालने के शुभराग में धर्म हो तो सिद्धदशा में भी परजीव की दया का राग होना चाहिये, परंतु शुभराग धर्म नहीं है, किंतु अधर्म है, हिंसा है।

पेरा नं० ३५—प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा स्वभाव को जानने पर श्रद्धा की अपेक्षा से अहिंसक भाव प्रगट होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव के पुण्य-पाप का भाव होता है, किंतु उसे

अपना स्वभाव नहीं मानता। इसप्रकार मान्यता में पुण्य-पाप से अपने स्वभाव की रक्षा किये रहता है, इसलिये इसके यथार्थ जीवदया है। अज्ञानी जीव अपने को क्षणिक पुण्य-पाप जितना ही मानकर त्रिकाल विकाररहित स्वभाव का नाश करता है, और यही हिंसा है। और फिर 'जीव दया' तो कही जाती है किंतु 'शरीर दया' नहीं कही जाती, क्योंकि शरीर जीव नहीं है। लोग शरीर की क्रिया से तुलना करते हैं, सो मिथ्या है। **जीव शरीर से भिन्न चेतनास्वरूप है, उसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में स्थिर रखना और विकार में नहीं जाने देना ही 'जीव रक्षा' है। मैं परजीव की रक्षा करूँ ऐसी दया की भावना भी परमार्थ से जीव हिंसा ही है।** इसप्रकार **पहले श्रद्धा में मानना चाहिये** और ऐसी मान्यता होने के बाद भी अस्थिरता के कारण शुभ विकल्प उठता है, किंतु वह धर्म नहीं है।

नोट—देखिये यहाँ हिंसा में पाप नहीं, ऐसा कहाँ आया है? **स्व-पर की दया के भाव में-पर जीव की दया भी पाली जाती यह बात स्पष्ट आई है।**

शास्त्राधार—भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार बंधाधिकार में जो अनेकांत सिद्धांत कहा है, वह पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३१ से ३३३, देहली से प्रकाशित में निम्न शब्दों में कहा है—

'बहुरि आस्रवतत्त्व विषै हिंसादि रूप पापास्रव है, तिनको हेय जाने है। अहिंसादिरूप पुण्यास्रव है, तिनको उपादेय माने है। सो ये तो **दोऊ ही कर्मबंध के कारण हैं, इन विषै उपादेयपनो माननो, सो ही मिथ्यादृष्टि है। सो ही समयसार बंधाधिकार विषै कहा है—**

आधार नं० २—समयसार बंधाधिकार कलश १६९ में कहा है कि सर्व जीवों के जीवन मरण-सुख दुःख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं—

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरण जीवित दुःख-सौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति॥

अर्थ—इस अज्ञान को प्राप्त करके जो पुरुष पर से पर के मरण जीवन सुख, दुःख को देखते हैं अर्थात् मानते हैं, वे पुरुष-जो कि इसप्रकार अहंकार रस से कर्मों को करने के इच्छुक हैं अर्थात् मैं इन कर्मों को करता हूँ, ऐसे अहंकाररूपी रस से जो कर्म करने की-मारने-जिलाने की सुखी-दुःखी करने की वांछा करनेवाले हैं, वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं, अपनी आत्मा का घात करनेवाले हैं।

दया का लक्षण—

आधार ३—यत् निजस्वभाव विकारभावेन न घातयति न हिनस्ति, निजस्वभाव पालयति तदेवः सैवः दया॥६॥ आत्म अवलोकन ग्रन्थ, पृष्ठ १८४

अर्थ—विकारमय परिणामों द्वारा अपने निज स्वभाव का घात नहीं करना, अपने स्वभाव का पालन करना ही दया है।

आधार नं० ४—ज्ञानी धर्मात्मा को भूमिकानुसार यत्नाचाररूप समिति होती है किंतु अज्ञानी जीव उसको संवर-निर्जरारूप समिति मानता है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा छोड़कर सच्ची श्रद्धा के लिये श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३३५ में कहा है कि—वह अज्ञानी जीव 'परजीवों की रक्षा के अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति को समिति मानै है। सो हिंसा के परिणामों से तो पाप ही है, **अर रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे, तो पुण्यबंध का कारण कौन ठहरेगा।** एषणासमिति में दोष टालै है। तहाँ रक्षा का प्रयोजन है नाहीं-मुनियों के किंचित् राग भये गमनादि क्रिया हो है, तहाँ तिन क्रियानि विषै अति आसक्तता के अभावतैं प्रमादरूप प्रवृत्ति न हो है और जीवों को दु:खी करि अपना गमनादि प्रयोजन न साधै है, **तातैं स्वयमेव ही दया पलै है, ऐसे सांची समिति है।**'

आधार नं० ५—प्रथम कथन के समर्थन में दिये गये शास्त्राधार में पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा ४२-४४ के अर्थ में आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घातने के हेतु से ये सब हिंसा ही हैं, निश्चय से रागादि भावों का प्रगट न होना अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है, ऐसा जिनागम-जैनसिद्धान्त का सार है। इसप्रकार द्वितीय कथन शास्त्रानुसार ही सिद्ध होता है।

कथन नं० ३

कथन नं० ३—'व्रत, तप, दया के शुभभाव आत्मा के विकार हैं, बंध हैं'

समयसार प्रवचन भाग १, पृष्ठ २१५

विवेचन—समयसार गाथा ६ पर 'अज्ञानी जीव किस कारण से परिभ्रमण करता है' उस विषय पर निम्न प्रकार से वर्णन है, किंतु पाठक देखेंगे कि एक ही वाक्य में से कुछ शब्दों को छोड़कर कुछ शब्द आक्षेपरूप में प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि पाठक भ्रम में पड़ जाये।

उक्त कथन दूसरी आवृत्ति समयसार प्रवचन भाग १, पृष्ठ २१२ में निम्न प्रकार है—

सच्ची आत्मा की दृष्टि में विकार नहीं है, क्योंकि विकार क्षणिक अवस्था है, इसलिये वह पर्यायार्थिकनय से है, पर पराश्रित है, इसलिये व्यवहार है, जो व्यवहार है, वह संयोगाधीन भाव है, वह छोड़ने योग्य है, जो यह नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

आत्मा ने अनंत काल में यह बात कभी नहीं सुनी, तब फिर सच्चा मनन कहाँ से करेगा। **व्रत-तप, दयादि के शुभभाव हो अथवा चोरी हिंसा आदि के अशुभभाव के लिये शुभभाव ठीक**

है, किंतु उनसे धर्म नहीं होता, इसप्रकार तब तक नहीं समझता, तब तक जीव पर के कर्तृत्व का अभिमान करके परिभ्रमण करता रहता है। **जो अविकारी मुक्त स्वभाव को अपना समझता है, उसके परवस्तु की तृष्णा कम हुए बिना नहीं रहती।** अज्ञानी जितना कर सकता है, उससे अनेक गुणा शुभभाव ज्ञानी की भूमिका में हो जाता है। जब तक ज्ञानी के पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई हो, तब तक **निम्न भूमिका में अशुभ से बचने के लिये उसके शुभभाव होता तो है, किंतु वह उसका स्वामी नहीं होता।**

रजकण देहादि की प्रवृत्ति और पुण्य-पाप आदि कोई मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसी प्रथम श्रद्धा होने पर ही ज्ञानी के पर में असक्ति का प्रेम दूर हो जाता है, फिर **विवेक सहित अशुभराग घटाने के लिये दानादि के द्वारा यह तृष्णा घटाये बिना नहीं रहता, जिस भाव से बंध होता है, उस भाव से धर्म नहीं होता।**

आधार नं० १—श्री पंडित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २३२ में निम्न प्रकार लिखा है, 'तहाँ अन्य जीवों को जिलावने का वा सुखी करने का अध्यवसाय होय, सो पुण्य बंध का कारण है। तातैं हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बंध का कारण जानि हेय ही मानना, अहिंसा विषैं रखा करने की बुद्धि होय, सो वाका आयु अवशेष बिना जीवे नाहीं। अपनी प्रशस्त राग परिणति करे आप ही पुण्य बाँधे है। ऐसे दोऊ हेय हैं। जहाँ वीतराग होय ज्ञाता दृष्टा प्रवर्ते तहां निर्बंध है। सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न होय तावत् प्रशस्तरागरूप प्रवर्ते, परंतु श्रद्धान तो ऐसा राखे—

यह भी बंध का कारण है—हेय है। श्रद्धानविषै याकौ मोक्षमार्ग जाने मिथ्यादृष्टि ही है।

आधार नं० २—श्री राजमलजी कृत समयसार कलश टीका, पुण्य-पाप अधिकार, कलश नं० ११० में कहा है 'यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा, जो मिथ्यादृष्टि का यतिपना क्रियारूप है, सो बंध का कारण है, सम्यग्दृष्टि का है तो यतिपना शुभ क्रियारूप, सो मोक्ष का कारण है। कारण कि अनुभवज्ञान तथा दया-व्रत, तप, संयमरूप क्रिया, दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते हैं। ऐसी प्रतीति कितने ही अज्ञानी जीव करते हैं। वहाँ समाधान ऐसा—जितनी शुभाशुभ क्रिया बहिर अल्परूप विकल्प अथवा अंतर अल्परूप अथवा द्रव्यों का विचाररूप अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार, रागमिश्रित विचार, इत्यादि समस्त कर्मबंध का कारण है, ऐसी क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि का ऐसा भेद तो कुछ नहीं। ऐसी करतूति से ऐसा बंध है। शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से मोक्ष है। **यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धज्ञान भी है।**

क्रियारूप परिणाम भी है। तथापि क्रियारूप जो परिणाम, उससे एकला बंध होता है, कर्म का क्षय एक अंशमात्र भी नहीं होता, ऐसा वस्तु का स्वरूप, सहारा, किसका।

अत: उपरोक्त कथन जिनागम के अनुसार है।

कथन नं० ४

'व्रत, दान, दया आदि का प्ररूपण करनेवाले ग्रंथ कुशास्त्र हैं' छहढाला, द्वितीय ढाल पद्य १३ की टीका :—

विवेचन—उपरोक्त वाक्य जिसप्रकार से काट छाँटकर प्रस्तुत किया गया है, वैसा तो कहीं भी नहीं आया लेकिन छहढाला के द्वितीय ढाल में कुदेव, कुधर्म, कुगुरु के लक्षणों से, गृहीत मिथ्याज्ञान के लक्षण में निम्नप्रकार से आया है, वहाँ पर सम्यग्ज्ञान अर्थात् सच्चे शास्त्रों का विषय ही नहीं है, वहाँ तो मात्र कुशास्त्र की बात है। **और श्वेताम्बर शास्त्रों में व्रत दान, दयादि के शुभभावों से संसार परित होना लिखा है, दिगम्बर शास्त्र तो दयादि के शुभभावों से पुण्यबंध होना मानते हैं, संसार का अभाव होना नहीं मानते। अत: उपरोक्त दृष्टि से निम्न कथन आया है।**

गृहीत मिथ्यात्व का कथन ढाल २ के ९ पद्य से नीचे माफिक है—

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषे चिरदर्शन मोह एव।
अंतर रागादिक धरें जेह, बाहर धन अंवरते सनेह॥९॥
धारें कुलिंग लहि महतभाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव।
जो राग द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादियुत चिन्ह चीन॥१०॥
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेवा, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव।
रागादि भाव हिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरणखेत॥११॥
जे क्रिया तिन्हें जानहुं कुधर्म, तिन सरधैं जीव लहे अशर्म।
याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान॥१२॥
एकान्तवाद—दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि-रचित श्रुत को अभ्यास सो है कुबोध बहु देन त्रास॥१३॥
जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करण विविध विध देहदाह।
आतम अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन॥१४॥

पद्य १३ के उत्तरार्ध का अर्थ जिसमें आक्षेप के शब्द इसप्रकार आये हैं:—५ जगत के कोई कर्ता-हर्ता तथा निर्माता है, ऐसा वर्णन करे अथवा, ६—दया, दान, महव्रतादि के शुभभाव से संसार

परित, अल्पमर्यादित होना बतलाये, तथा उपदेश देने के शुभभाव से धर्म होता है आदि जिनमें विपरीत कथन हो, वे शास्त्र एकांत और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की भूल होती है, ऐसा समझना चाहिये।

नोट—उपरोक्त विषय को विशेष स्पष्ट करने के लिये छहढाला का नवीन संस्करण जो सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है, उसमें नीचे माफिक स्पष्टीकरण और भी कर दिया है।

६—दया, दान, महाव्रतादि के शुभभाव जो कि पुण्यास्रव हैं उससे, तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से संसार परित होना बतलाये, तथा उपदेश देने के शुभभाव से धर्म होता है—इत्यादि श्वेताम्बरादि ग्रंथों में विपरीत कथन है, वे शास्त्र एकांत और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है।

आधार नं०१—मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय ५, पृष्ठ २३२ श्वेतांबर मत की क्या भूल है, यह बताते हुए लिखते हैं कि—

बहुरि व्रतादिरूप शुभोपयोग ही तैं देव का बंध माने, अर याही को मोक्षमार्ग माने, सो बंधमार्ग-मोक्षमार्ग को एक किया, सो यह मिथ्या है। बहुरि व्यवहार धर्म विषै अनेक विपरीत निरूपै है, निंदक को मारने में पाप नहीं, ऐसा कहे हैं॥

आधार नं० २

मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३३६, ३३७ में अध्याय ७ दिगम्बर जैन मत अनुयायी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बतानेवाले अधिकार में व्रततपादिक को धर्म का कारण मानने का निम्न शब्दों में निषेध किया है—

हिंसादि सर्व सावद्य योग का त्याग को चारित्र मानै है। तहां महाव्रतादिरूप शुभयोग को उपादेयपनै करि ग्रहण मानै है। सो तत्त्वार्थसूत्रविषै आस्रव पदार्थ का निरूपण करते महाव्रत अणुव्रत भी आस्रवरूप कहे हैं। ये उपादेय कैसे होय। अर आस्रव तो बंध का साधक है, चारित्र मोक्ष का साधक है, तातैं महाव्रतादिरूप आस्रवभावनिको चारित्रपनो संभव नाहीं। सकल कषाय रहित जो उदासीन भाव, ताहि का नाम चारित्र है।

बाह्य व्रतादिक हैं, सो तो शरीरादि परद्रव्य के आश्रय हैं। परद्रव्य का आप कर्ता है नाहीं। तातैं तिस विषै कर्तृत्वबुद्धि भी न करनी अर तहां ममत्व भी न करना, बहुरि व्रतादिक विषै ग्रहण त्यागरूप अपना शुभोपयोग होय, सो अपने आश्रय है। ताका आप कर्ता है, तातैं तिसविषैं

कर्तृत्वबुद्धि भी माननी। अर तहां ममत्व भी करना। **बहुरि इस शुभोपयोग को बंध का ही कारण जानना। मोक्ष का कारण न जानना। जातैं बंध अर मोक्षकै तौ प्रतिपक्षीपना है, तातैं एक ही भाव पुण्यबंध को भी कारण होय, और मोक्ष को भी कारण होय, ऐसा मानना भ्रम है।**

उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है। **वस्तु विचारतें शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है, जातैं बंध का कारण सोई मोक्ष का घातक है, ऐसा श्रद्धान करना। शुद्धोपयोग ही को उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग अशुभोपयोग को हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना।** जहाँ शुभोपयोग न होय सके, तहां अशुभोपयोग को छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्तना।

कोई ऐसे मानै कि शुभोपयोग है, सो शुद्धोपयोग को कारण है, सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है, तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसे ही कार्य—कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरे अथवा द्रव्यलिंगी के शुभोपयोग तो उत्कृष्ट हो है, शुद्धोपयोग होता ही नहीं। तातैं परमार्थतैं इनके व्रतादि शुभोपयोग को और शुद्धभाव को कारण-कार्यपना है नाहीं।

अत: उपरोक्त कथन से सिद्धांत का घात नहीं, अपितु सिद्धांत का समर्थन ही होता है।

कथन नं० ५

ज्ञानियों ने पुण्य को विष्टा समझकर छोड़ दिया है, अज्ञानी उस विष्टा को खा रहे हैं। समयसार प्रवचन भाग-१, पृष्ठ-१२५

विवेचन—यह विषय समयसार गाथा ४ के प्रवचन में निम्नप्रकार से आया है।

मैंने पुण्य किया है, इसलिये भोगना चाहिये, पुण्य का फल मीठा लगता है, ऐसा मानता है। यह इस विशाल गृहरूपी गुफा में ऐसा पड़ा रहता है जैसे विशाल पर्वतों की गुफा में जीव जन्तु पड़े रहते हैं। अत: आत्मा की प्रतीति के बिना वे दोनों समान हैं।

इतना करो तो पुण्य होगा, फिर अच्छा संयोग मिलेगा, देवभवन में ऐसे सुख मिलेंगे; ऐसा सुनकर जीव पुण्य को धर्म मानता है किंतु पुण्य का फल तो धूल है, उससे आत्मा को कलंक लगता है। मनुष्य अनाज खाता है, उसकी विष्टा भुंड-शूकर नामक प्राणी खाता है, ज्ञानी ने पुण्य को—जगत की धूल को विष्टा समझकर त्याग किया है। (यहाँ पुण्य के फल को ही धूल तथा विष्टा कहा है, पुण्यभाव को नहीं) उधर अज्ञानीजन पुण्य को उमंग से अच्छा मानकर आदर करता है, **इसप्रकार इस अपेक्षा से ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई, पुण्यरूपी विष्टा जगत में अज्ञानी जीव खाते**

हैं। ज्ञानी जनों ने पुण्य-पापरहित आत्मा की सम्यक् श्रद्धा ज्ञान आचरण से मोक्ष प्राप्त किया है।

समयसार प्रवचन भाग-१, आवृत्ति-२, पृष्ठ १२३-२४

नोट—यहाँ पुण्यभाव-शुभभाव को विष्टा नहीं कहा है, किंतु पुण्य के फलरूप जो नोकर्म पुद्गल द्रव्य बाह्य सामग्री है, उस भोग उपभोगरूप बाह्य सामग्री से ममत्व छुड़ाने के लिये सब ज्ञानी लोग उस पुण्यरूप बाह्य सामग्री को विष्टा समान गिनते हैं, यह कहा है।

आधार १—श्री बनारसीदासजी कृत समयसार नाटक, बंध अधिकार, दोहा नं० १८, उत्तम पुरुष का स्वभाव, सवैया ३१ सा—

कीचसौ कनक जाकै नीच सौ नरेश पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुद्गल छवि छारसी॥
जालसौ जग विलास भालसौ भुवन वास,
कालसौ कुटुम्ब काज लोक लाज लारसी।
सीठसौ सुजस जानै वीठसौ वखत मानै
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी॥१९॥

उसका श्री राजचंद्रजी द्वारा अर्थ:—जो कंचन को कीच के समान जानता है, राजगद्दी को नीचपद के समान, किसी से स्नेह करना मरण के समान, बड़प्पन को घर पोतने के गोबर-मिट्टी के समान, कीमियादि जोग को जहर समान, सिद्धि आदि ऐश्वर्य को असाता के समान, जगत में पूज्यता होने आदि की होंश (रुचि) को अनर्थ के समान, पुद्गल की छवि ऐसी यह औदारिक आदि शरीर को राख जैसा, जगत के भोग विलास को घबराहटरूप झंझट जाल के समान, गृहवास को भाले के समान, कुटुम्ब कार्य को मृत्युवत्, लोगों में प्रतिष्ठा बढ़ाने की इच्छा को मुख में से टपकनेवाली लार के समान, कीर्ति की इच्छा को नाक के मैलवत् और पुण्योदय को जो विष्टा के समान जानता है, ऐसी जिनकी रीति होती है उन्हीं को, बनारसीदास वंदना करते हैं।

आधार २— चक्रवर्ति की संपदा, इन्द्र सारिखे भोग।
काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग।

आधार ३—पुण्यभाव-शुभभाव भी आस्रव है। इसलिये आस्रव को आचार्यों ने अशुचि-मैल कहा है। - समयसार आस्रव अधिकार।

आधार—

(१) समयसार, गाथा १ जयसेनाचार्य टीका में 'अमल' का अर्थ द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्म मलरहित ऐसा किया है।

(२) परम अध्यात्म तरंगिणी मोक्ष अधिकार कलश नं० ३ टीका में 'शुद्ध' का अर्थ द्रव्यभाव नो कर्म मल मुक्त, ऐसा किया है।

(३) चतुर्विंशति जिनस्तुति में 'विहुयरय मला' पाठ है।

उसका अर्थ है—हे भगवन्! आपने विशेषरूप से धोया है, नष्ट किया है, रय-ज्ञानावरणादि रज द्रव्यकर्म और मल-शुभाशुभ रागरूप भावकर्म। परमात्म प्रकाश में तथा अन्य ग्रंथों में द्रव्यभाव कर्म को 'मल' बहुत बार कहा है।

(४) समयसार, गाथा ७२ अशुचिपना, विपरीतता, ये आस्रवों को जानके। अर दुःख कारण जानके इनसे निवर्तन जीव करे ॥७२॥

टीका—जल में काई है सो मल या मैल है, उस सेवाल-मल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं। इसलिये वे अशुचि हैं-अपवित्र हैं।

(५) समयसार गाथा ३०६ प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकार का विषकुम्भ है ॥३०६॥

नोट—जहाँ **भावास्रव को ही आचार्य शुचि, मल आदि रूप से संबोधन करते हैं तो उसके फलरूप पुण्य सामग्री को ज्ञानी जन विष्टा गिने तो क्या दोष ?**

ज्ञानी को भूमिकानुसार, व्रत, दया दान, पूजादिक के शुभभाव होते हैं अवश्य, किंतु वे श्रद्धा में उन्हें हेय समझते हैं, आस्रवतत्त्व समझते हैं। फिर भी भूमिकानुसार शुभ व्यवहार निमित्तरूप से इस ही प्रकार के आते हैं, उनका ज्ञान कराने के लिए और अशुभ पाप से बचने के लिए उसे असद्भूतव्यवहारनय से व्यवहारधर्म कहा है।

अतः उपरोक्त कथन नं० ५ यथार्थ है।

कथन नं० ६—

दान पूजादि शुभभावों से धर्म मानना त्रिकाल मिथ्यात्व है

(समयसार प्रवचन भाग २, पृष्ठ ८)

विवेचन—उपरोक्त विषय समयसार गाथा १३ के प्रवचन में निम्नप्रकार से आया है,

जिसको प्रस्ताव में तोड़ मरोड़कर विपरीत रूप में उपस्थित किया गया है।

''जिसने ऐसे नवतत्त्वों को नहीं जाना, उनकी यहाँ बात नहीं है। वीतरागदेव के शास्त्रों से या सत्समागम से जिसने सच्चे नवतत्त्वों को जान लिया, तथापि वह नवतत्त्वों के विकल्पों में ही लगा रहे तो उसका संसार बना रहेगा। नव प्रकार में से शुद्धनय के द्वारा एकरूप ज्ञायक हूँ, इसप्रकार एक परमार्थ स्वभाव को ही स्वीकार करना सम्यक्त्व है। **दान पूजादि इत्यादि शुभभाव है और हिंसा असत्य आदि अशुभभाव हैं। उन शुभ-अशुभभावों के करने से धर्म होता है, यह मानना सो त्रिकाल मिथ्यात्व है, इससे पुण्य को शुभभाव को छोड़कर पाप में जाने को नहीं कहा है।** विषय कषाय देहादि में आसक्ति, रुपया-पैसा और राग की प्रवृत्तिरूप व्यवसाय इत्यादि समस्त भावों में मात्र पापरूप अशुभभाव है और दानादि में तृष्णा की कमी अथवा कषाय की मंदत इत्यादि हो तो वह शुभभाव पुण्य है, इसप्रकार पुण्य-पाप को व्यवहार से भिन्न माने किंतु दोनों को आस्रव मानकर उससे धर्म न माने। इसप्रकार नव तत्त्वों को भलीभाँति जाने तो वह शुभभाव है।''

आधार १—समयसारजी कलश टीका श्री राजमलजी कृत पुण्य-पाप अधिकार कलश नं० ४, सीरियल नं० १०३ अर्थ—जिसकारण सर्वथा वीतराग जितनी शुभरूप व्रत, संयम, तप, शील, उपवास इत्यादि क्रिया अथवा विषय-कषाय असंयम इत्यादि क्रिया, उसको एक सी दृष्टिकर बंध का कारण कहते हैं।

भावार्थ इसप्रकार है—जैसे जीव को अशुभक्रिया करते हुए बंध होता है, वैसे ही शुभक्रिया करते हुए जीव को बंध होता है, बंधन में तो विशेष (भेद) कुछ नहीं। इस कारण शुभरूप अथवा अशुभरूप, कोई **मिथ्यादृष्टि जीव शुभक्रिया को मोक्षमार्ग जानकर पक्ष करता है** सो निषेध किया, ऐसा भाव स्थापित किया कि मोक्षमार्ग कोई कर्म (क्रिया) नहीं, निश्चय से शुद्ध स्वरूप अनुभव मोक्षमार्ग, अनादि परम्परा ऐसा उपदेश है ॥१॥

श्री रायचंद्र जैन शास्त्रमाला समयसार गाथा २०० कलश नं० १३७ के भावार्थ में पंडित जयचंद्रजी ने कहा है कि यहाँ कोई पूछे कि व्रत समिति तो शुभकार्य है, उनको पालने पर भी पापी क्यों कहा। उसका समाधान—**सिद्धांत में पाप मिथ्यात्व को ही कहा है। जहाँ तक मिथ्यात्व रहता है, वहाँ तक शुभ-अशुभ सभी क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ कर पाप ही कहा है** और व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ छुड़ाके शुभ में लगाने को किसी तरह पुण्य भी कहा है। स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है।

आधार नं० ३—मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ ३७६ में भी कहा है कि ''बहुरि इस शुभोपयोग को बंध का ही कारण जानना, मोक्ष का कारण न जानना। जातैं बंध और मोक्ष कै तौ प्रतिपक्षपना है, तातैं एक भाव पुण्य बंध को भी कारण होय अर मोक्ष को भी कारण होय ऐसा मानना भ्रम है। तातैं व्रत अव्रत दो विकल्प रहित जहाँ परद्रव्य के ग्रहण त्याग का कुछ प्रयोजन नहीं, ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग सोई मोक्षमार्ग है।''

अत: कथन नं० ६ निर्दोष है।

कथन नं० ७—

जैन गजट में तारीख २० मई १९६५ में कथन नं० ७ में 'जिनवाणी परस्त्री समान है, मोक्षमार्गप्रकाशक किरण पृष्ठ ८ ऐसा लिखा है किंतु दूसरे नये पोस्टर में जिनवाणी पर है और परस्त्री भी पर है (आधार मोक्षमार्गप्रकाशक किरण पृष्ठ ९०) ऐसा लिखा है, यह परिवर्तन कैसे किया, समझ में नहीं आता।

विवेचन—मोक्षमार्गप्रकाशक किरण भाग १ तथा भाग २ के उपरोक्त किसी भी पृष्ठ पर कहीं भी ऐसा कथन नहीं है किंतु मोक्षमार्गप्रकाशक किरण भाग २ आवृत्ति २ पृष्ठ ६४ में निम्न प्रकार कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ के विवेचन में मिलता है।

यहाँ लिखा है कि 'इसप्रकार चारों अनुयोग कार्यकारी हैं।'

प्रश्न—पद्मनन्दी पंचविंशतिका में ऐसा कहा है कि जो आत्मस्वरूपतैं निकसि बाह्य शास्त्रनिविषैं बुद्धि विचरै है सो वह बुद्धि व्यभिचारिणी है।

उत्तर—पद्मनन्दी भगवान ऐसा कहते हैं कि आत्मा से च्युत होकर जिसकी बुद्धि शास्त्र में जाती है, वह व्यभिचारिणी है, यह तो सत्य है, परद्रव्य का ज्ञान करना यह राग का कारण नहीं है किंतु **परद्रव्य में प्रेम हुआ है, उसे व्यभिचारिणी कहा है।** ज्ञानी को भी पर में बुद्धि जाने से जितना राग होता है, उतना दु:खदाई है, इसलिये उस बुद्धि को व्यभिचारिणी कहा है, इस अपेक्षा से यह बात की है। जिसे भगवान आत्मा का निर्णय हुआ है, वह परद्रव्य के ज्ञान का प्रेम करे तो उसे व्यभिचार कहा है, क्योंकि यह पुण्य राग है। स्त्री ब्रह्मचारिणी रहे तो ठीक है किंतु ब्रह्मचर्य पालन न कर सके और अपने योग्य पुरुष से प्यार करना छोड़ चांडालादि का सेवन करे तो वह महा निंदनीय होती है। स्त्री शील का पालन करे तो यह पुण्यबंध है। यह तो दृष्टांत है:—उसी तरह **बुद्धि आत्मा में रहे तो ठीक है किंतु आत्मा में स्थिर न रह सके और शास्त्राभ्यास का प्रशस्त राग**

छोड़कर अशुभभाव करे तो वह महा निंदनीय है। शास्त्राभ्यास को छोड़कर सांसारिक कार्यों में लगा जाये तो यह पाप है। भगवान आत्मा ज्ञान में रमण करे तो अच्छा है, और आत्मा में रमण न कर सके तो शुभभाव में रहना अच्छा है, किंतु अशुभभाव तो करने योग्य नहीं है। यहाँ जिसे आत्मदृष्टि हुई है, उस अपेक्षा से शुभभाव ठीक है, ऐसा व्यवहार कहा है।

आधार १—श्री पद्मनन्दी पंचविंशतिका अध्याय १, गाथा ३८ में लिखा है, * जो बुद्धिरूपी स्त्री बाह्य शास्त्ररूपी वन में घूमनेवाली है बहुत विकल्पों को धारण करती है तथा चैतन्यरूपी कुलीन घर से निकल चुकी है, वह पतिव्रता के समान समीचीन नहीं है किंतु दुराचारिणी स्त्री के समान है ॥३९॥

आधार २—मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ में पृष्ठ २९५ में श्री टोडरमलजी ने कहा है कि बहुरि जो आत्मस्वरूप से निकसि बाह्य शास्त्रनि विषै बुद्धि विचरे है, सो बुद्धि व्यभिचारिणी है ताका उत्तर—यह सत्य कहा है। बुद्धि तो आत्मा की है, ताको छोड़ि परद्रव्य शास्त्रनि विषैं अनुरागिणी भई ताको व्यभिचारिणी ही कहिये। अतः कथन नंबर ७ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० ८—

हिंसा करने के समय कसाई को अल्प पुण्य होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक किरण, अध्याय ३, पृष्ठ १२२

विवेचन—यहाँ ऐसा कथन नहीं लिखा गया है, संपूर्ण विवेचन को सूक्ष्मता से पढ़कर निर्णय करना चाहिये।

पुण्य-पाप अकेले नहीं होते, धर्म अकेला होता है। चाहे जैसा तीव्र से तीव्र अशुभ परिणाम करे, तथापि उस समय जो पापबंध होता है, उसी के साथ अमुक पुण्यबंध भी (अल्पस्थिति बंधवाला) होता ही है। उसीप्रकार चाहे जैसा शुभपरिणाम करे, तथापि उस समय जो पुण्यबंध होता है, उसी के साथ अमुक पापबंध (अल्पस्थिति बंधवाला) होता ही है, (घातिकर्म सब पाप ही है अर्थात् उनमें भेद नहीं है) पुण्य-पापरहित मात्र शुभभाव अकेला हो सकता है, किंतु अकेला पुण्य या अकेला पाप किसी जीव को नहीं हो सकता। पुण्य-पाप (गौण

---

* बाह्य शास्त्र गहने विहारिणी या मतिर्बहु विकल्प धारिणी।
चित्स्वरूप कुलसद्म निर्गता सासतीन सदृशी कुयोषिता ॥३८॥

मुख्य) दोनों ही होते हैं, यदि मात्र पुण्य ही हो जाये तो संसार ही नहीं हो सकता। और मात्र पाप ही हो जाये तो चैतन्य का ही सर्वथा लोप हो जाये अर्थात् आत्मा का ही विनाश हो जाये।

निगोद के जीव को भी अमुक मंदकषाय तो होती ही है। उसके जो चैतन्य का विकास है, वह मंदकषाय का फल है। यदि कषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकांत पाप ही हो) तो चैतन्य नहीं रह सकता, और वर्तमान में चैतन्य का जितना विकास है, वह बंध का कारण नहीं होता। **हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प पुण्यबंध होता है। हिंसाभाव पुण्यबंध का कारण नहीं है, किंतु उसी समय चैतन्य का अस्तित्व है, ज्ञान का अंश उस समय भी रहता है, उससे सर्वथा पाप में युक्तता नहीं होती।**

शुद्धता में द्विरूपता नहीं है, किंतु एक ही प्रकार है, और अशुद्धता में शुभ-अशुभ ऐसी द्विरूपता होती है, आत्मा का शुद्धतारूप धर्म पुण्य-पाप के बिना-अकेला रह सकता है।

नोट—उपरोक्त कथन में हिंसा के भाव से पुण्यबंध की बात कहाँ आई। परंतु यह स्पष्ट लिखा है कि **हिंसा के भाव पुण्यबंध का कारण नहीं है।**

प्रश्न है कि क्या हिंसा के समय पुण्यकर्म अल्प-अल्प भी बँधते हैं ?

उत्तर—हाँ अल्प अल्पस्थिति अनुभाग सहित अघाति कर्म बँधते हैं।

शास्त्राधार नं० १—

श्री महावीरजी में छपी जैन सिद्धांत प्रवेशिका पंडित गोपालदासजी बरैया कृत, पृष्ठ ११०, अध्याय ३-प्रश्न नं० ४५१ जिस समय जीव के शुभयोग होता है, उस समय पाप प्रकृतियों का आस्रव होता है या नहीं। उत्तर—होता है।

प्रश्न—४५२ यदि होता है, तो शुभयोग पापास्रव का भी कारण ठहरा।

उत्तर—नहीं ठहरा क्योंकि जिस समय जीव में शुभयोग होता है, उस समय पुण्य प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ता है, और पाप प्रकृतियों में कम प्रड़ता है, और इसीप्रकार **जब अशुभयोग होता है, तब पाप प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ता है, और पुण्य प्रकृतियों में कम।** सूत्रजी के अध्याय ६ में ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के आस्रव के कारण जो तत्प्रदोषा कहे हैं, उसका अभिप्राय है कि उन भावों से उन-उन प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ते हैं। अन्यथा जो ज्ञानावरणादिक पाप-प्रकृतियों का आस्रव दशवें गुणस्थान तक सिद्धान्त में कहा है, उससे विरोध आवेगा।

आधार नं० २—

गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा १६३ में भी यही बात है।

(रायचन्द्र ग्रंथमाला प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ६६)

शुभ प्रकृतिनां विशेद्या तीव्र अशुभानां संकलेशेन।
विपरीतेन जघन्य अनुभाग-सर्व प्रकृतीनाम्॥१६३॥

अर्थ—सातावेदनीयादि शुभ (पुण्य) प्रकृतियों का अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामों में उत्कृष्ट होता है। असाता वेदनीयादि प्रकृतियों का अनुभाग बंध क्लेशरूप परिणामों से उत्कृष्ट होता है और विपरीत परिणामों से (ऊपर कहे गये से उल्टा करने पर) जघन्य अनुभाग बंध होता है, अर्थात् **शुभप्रकृतियों का संक्लेश (तीव्र कषायरूप) परिणामों से ज० अनुभाग बंध और अशुभ प्रकृतियों का विशुद्ध (मंदकषायरूप) परिणामों से जघन्य अनुभाग बंध होता है,** इसप्रकार सब प्रकृतियों का अनुभाग बंध समझना॥१६३॥

आधार (३)—मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय २, पृष्ठ ४०, ४१, देहली में भी निम्नप्रकार है:—

तहां घातिकर्मनिकी सब प्रकृतिनिविषैं वा अघाति कर्मनिकी पाप प्रकृतिनि विषैं तो अल्पकषाय होतैं थोड़ा अनुभाग बँधै है। बहुत कषाय होतैं घना अनुभाग बंधै है। बहुरि पुण्य प्रकृतिविषैं अल्प कषाय होतैं घना अनुभाग बँधै है। बहुत कषाय होतैं थोरा अनुभाग बंधै है। ऐसैं कषायनि करि कर्म प्रकृतिनिके स्थिति अनुभाग का विशेष भया, तातैं कषायनि करि स्थिति बंध अनुभाग बंध का होना जानना। अत: कथन नं० ८ भी शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० ९—

'उपदेश मुनि का लक्षण नहीं है, यह तो जड़ की क्रिया है'
: मोक्षमार्गप्रकाशक किरण, पृष्ठ १७८ :

विवेचन—यहाँ इसप्रकार से नहीं लिखा है, किंतु निम्नप्रकार है—आवृत्ति-दूसरी, पृष्ठ १८०, १८१ पुनश्च, उपवास अथवा वृत्तिपरिसंख्यानादि नियम से मुनि की परीक्षा करे तो यह भी यथार्थ नहीं है। जीव ने अनेकों बार ऐसे उपवासादि किये हैं। शीत-ताप सहन करना, यह मुनिपना नहीं है। अंतर का (शुद्धात्मतत्त्व का) अनुभव मुनिपना है, उसकी परीक्षा अज्ञानी नहीं करता। कोई मुनि तीव्र क्रोधादि करे तो वह तो व्यवहाराभास में भी नहीं आता, किंतु कोई मुनि बाह्य क्षमाभाव

रखता हो और उसके द्वारा परीक्षा करे तो वह भी सच्ची परीक्षा नहीं है। **दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश तो जड़ की क्रिया है, आत्मा उसे कर नहीं सकता। ऐसे बाह्य लक्षणों से मुनि की परीक्षा करता है, वह यथार्थ नहीं है।** ऐसे गुण तो परमहंस आदि में भी होते हैं। दया पाले उपवास आदि करे—यह लक्षण तो मिथ्यादृष्टि में भी होते हैं; ऐसे पुण्य परिणाम तो जैन मिथ्यादृष्टि मुनियों तथा अन्यमतियों में भी दिखाई देते हैं; इसलिये उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। अतिव्याप्ति अव्याप्ति और असम्भव दोषरहित परीक्षा न करे, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। शुभभावों के द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती। ××उपवास में राग की मंदता होना जीवाश्रित है और खाद्य पदार्थों का न आना जड़ाश्रित है; क्रोध के परिणामों का होना, यह जीवाश्रित है और आँख लाल हो जाना जड़ाश्रित है, इसप्रकार जिसे दोनों के भेदज्ञान की खबर नहीं है, वह सच्ची परीक्षा नहीं कर सकता। चैतन्य और जड़ असमानजातीयपर्याय है। जड़ की पर्याय मुझसे होती है—ऐसा अज्ञानी मानता है। यह असमानजाति मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धि होने से मिथ्यादृष्टि ही रखता है।

मुनि का सच्चा लक्षण—

अब मुनि की सच्ची परीखा करते हैं। **मुनि के व्यवहार होता अवश्य है, किंतु उससे उनकी सच्ची परीक्षा नहीं होती। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनि का सच्चा लक्षण है।**

शास्त्राधार नं० १—

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सर्वज्ञ भगवान की साक्षी देकर कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्ता हो सकता है, ऐसा माननेवाले द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं, सर्वज्ञ के मत से बाह्य हैं, देखो समयसार, गाथा ८६, ८७ तथा उनकी टीका तथा समयसार, गाथा ३२१ से ३२३।

आधार नं० २—

गुरु का स्वरूप समझने में अज्ञानी को भूल किसप्रकार होती है, इसका मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ ३२७ में निम्नप्रकार वर्णन किया है कि:—

''कोई जीव परीक्षा भी करे है, तहां मुनि दया पालै है, शील पालै है, धनादि नाहीं राखे है, उपवासादि तप करे है, क्षुधादि परिषह सहे है, किसी से क्रोधादि नाहीं करे, उपदेश देय औरनिको धर्म विषै लगावै है, इत्यादि गुण विचारि तिनविषै भक्तिभाव करै है। सो ऐसे गुण तो परमहंसादि अन्यमति में है, तिन विषैं या जैनी मिथ्यादृष्टिनि विषै भी पाइये है। तातैं इनि विषैं अतिव्याप्तिपनों है।

इति करि सांची परीक्षा होय नाहीं। बहुरि जिन गुणों को विचारैं है, तिन विषै केई जीवाश्रित है, केई पुद्गलाश्रित है, तिनका विशेष न जानना, असमानजातीय मुनिपर्यायविषैं एकत्वबुद्धितैं मिथ्यादृष्टि ही रहे है। **बहुरि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग सोई मुनिन का सांचा लक्षण है।**''

आधार नं० ३—

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३१ में भी कहा है कि 'जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धिकरि जानपना विषैं वा वर्णादिविषैं अहंबुद्धि धारै है, तैसैं यहु भी आत्माश्रित ज्ञानादिविषैं वा शरीराश्रित उपदेश उपवासादि क्रियानिविषैं आपो मानैं है।'

नोट—देखो, जिसप्रकार शरीराश्रित क्रिया जड़ है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है, इसप्रकार वचनरूप उपदेश भी आत्मा की क्रिया नहीं है। उसको मुनिपना का लक्षण मानना मिथ्यादृष्टि, ऐसा सिद्ध होता है।

अत: कथन नं० ९ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० १०—

'तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता'

: मोक्षमार्गप्रकाशक किरण, पृष्ठ २१२ :

विवेचन—यह विषय मोक्षमार्गप्रकाशक के अध्याय ७ बंधतत्त्व के श्रद्धान में अयथार्थता के विषय में आया है। तीर्थंकर की वाणी से लाभ होता है, यह कथन व्यवहारनय का निमित्त का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है, इसको वास्तविक स्वरूप मानना दो द्रव्य की एकताबुद्धि है। यह प्रसंग मोक्षमार्गप्रकाशक किरण, पृष्ठ २०८ से २१२ में वर्णित है:—

''तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता (क्योंकि) जिस परिणाम से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध हुआ, वह परिणाम जीव को अपने लिये हेय है और प्रकृति (कर्म प्रकृति) अहितकर है, तो फिर दूसरों को हितकर कैसे हो सकती है। अज्ञानी जीव तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से लाभ मानता है और उससे अनेक जीव तरते हैं, ऐसा मानता है, वह भूल है। (वास्तव में क्या है) **जीव स्वयं अपने कारण तरता है, तब तीर्थंकर की वाणी को निमित्त कहा जाता है**—ऐसा वह (अज्ञानी) नहीं समझता।

इसप्रकार शुभाशुभभावों द्वारा कर्मबंध होता है, उसे भला-बुरा जानना ही मिथ्या श्रद्धान है,

और ऐसे श्रद्धान से बंधतत्त्व का भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।''

उपरोक्त कथन मोक्षमार्गप्रकाशक किरण, पृष्ठ २१२ में है।

इस विषय में श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला—श्री पूज्यपादाचार्य कृत इष्टोपदेश, गाथा ३४-३५, पृष्ठ ४१-४३ में कहा है कि:—

दोहा— आपहिं निजहित चाहता, आपहि ज्ञाता होय।
आपहिं निजहित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय॥३४॥

यहाँ पर शिष्य आक्षेपसहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरों की क्यों सेवा करनी होगी? बस जब आपस में खुद का खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुओं को नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा मानने से अपसिद्धान्त हो जायेगा। ऐसे बोलनेवाले शिष्य के प्रति आचार्य जवाब देते हैं—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥३५॥

दोहा— मूर्ख न ज्ञानी को सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्तमात्र पर जान जिमि गति धर्म तें होय॥३५॥

समयसार प्रवचन भाग १, आवृत्ति २, पृष्ठ १३८ में गाथा ४ के वर्णन में श्री कानजीस्वामी ने कहा है कि 'तीर्थंकर भगवान की वाणी से लाभ क्यों नहीं हुआ कि त्रिकाल साक्षीरूप भगवान आत्मा को नहीं जाना, इसलिये सर्वज्ञ भगवान के पास अनंत बार जाने पर भी, पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं पर का आश्रयवाला हूँ, ऐसे पराश्रित भाव की पकड़ होने से केवलज्ञानी भगवान के पास से भी कोरा का कोरा यों ही लौट आया।'

आत्मधर्म वर्ष १६, अंक नं० ९, पत्र ३१६-१७ में समयसार गाथा ५ के प्रवचन में भी तीर्थंकर की वाणी से लाभ क्यों नहीं हुआ, उसका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है:—

प्रश्न—प्रभो! अनंत बार समवसरण में जाकर श्रवण किया है, फिर भी आप ऐसा क्यों कहते हैं कि श्रवण नहीं किया?

उत्तर—समवसरण में जाकर श्रवण किया और संतों से भी सुना, किंतु उसे वास्तव में श्रवण नहीं कहते, क्योंकि सर्वज्ञों और संतों का जैसा आशय था, वैसा लक्ष्य में नहीं लिया; इसलिये श्रवण नहीं किया है, यह कहा है।

अनादिकाल से जो विपरीत रुचि थी, वैसी ही रुचि का मंथन दिव्यध्वनि सुनते समय भी होता रहा, इसलिये दिव्यध्वनि श्रवण करने का कोई फल नहीं मिला। उपादान में कुछ अंतर तो नहीं पड़ा; इसलिये वास्तव में उसने शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं, उसने भगवान की बात का श्रवण ही नहीं किया है।

भले ही समवसरण में जाये और दिव्यध्वनि सुने, किंतु जिसकी रुचि में ही विकार भरा है, उसे शुद्धात्मा की सुगंध रुचि नहीं आती। जीवों ने अंतर में विकार की रुचि रखकर श्रवण किया। इसलिये उन्हें अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद नहीं आया।

आधार नं० १—योगीन्दुदेव कृत योगसार दोहा नं० ५३ में भी स्पष्ट कहा है कि—

शास्त्रं पठन्तः ते अपि जड़ा आत्मानं ये न जानन्ति।
तस्मिन् कारणो (तेन कारणेन) एते जीवाः स्फुटं न खलु निर्वाणं लभन्ते ॥५३॥

अर्थ—जो शास्त्रों को तो पढ़ लेते हैं परंतु आत्मा को नहीं जानते, वे लोग भी जड़ ही हैं। तथा निश्चय से इसी कारण ये जीव निर्वाण को नहीं पाते यह स्पष्ट है।

नोट—शास्त्र अथवा भगवान की दिव्यध्वनि दोनों एक ही हैं।

आधार नं० २—निमित्तों से जीव का भला नहीं होता। इस बात को भैया भगवतीदासजी ने ब्रह्म विलास, पृष्ठ २३२ से २३६ में ४७ दोहों में अत्यंत स्पष्ट कहा है, उसमें दोहा नं० ८ में यही कहा है कि—

देव जिनेश्वर गुरु बती, अरु जिन आगम सार।
इहि निमित्ततैं जीव सब, पावत हैं भवपार॥८॥

इस कथन का खंडन करते हुए उपादान का कथन निम्नप्रकार है कि—

यह निमित्त इस जीव को, मिल्यो अनन्तीबार।
उपादान पलटयो नहीं, तो भटक्यो संसार॥९॥

आगे फिर कहा है कि—

उपादान कहे तूं कहा, चहुंगति में ले जाय।
तो प्रसादतैं जीव सब, दुखी होंहि रे भाय॥३३॥

अतः कथन नं० १० भी आगम सम्मत है।

कथन नं० ११

''सम्मेदशिखर गिरनार आदि के वातावरण से धर्म की रुचि होती है—ऐसा माननेवाला

मिथ्यादृष्टि है।'' (मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण, पृष्ठ १७२)

विवेचन—यहाँ भी जिसरूप में कथन उद्धृत किया गया है, वैसा नहीं है। अतः मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण, पृष्ठ १६९, १७० में अध्याय ७ के प्रवचन का पूर्ण प्रसंग प्रस्तुत किया जाता है।

परिणाम शुद्ध हुए बिना व्यवहार से अरिहंत को भी स्वर्ग-मोक्षादि के दाता कहा नहीं है। अरिहंत देव तथा वाणी परवस्तु है। शुभभाव पुण्यास्रव है, उससे रहित चिदानंद की दृष्टिपूर्वक शुद्ध परिणाम करे—वह मोक्षदातार है तो अरिहंत को उपचार से मोक्षदातार कहा जाता है। जितना शुभभाव शेष रहता है, उसके निमित्त से स्वर्ग प्राप्त होता है। तो फिर भगवान को निमित्तरूप से स्वर्गदाता भी कहा जायेगा। यदि भगवान इस जीव के शुभ या शुद्ध परिणामों के कर्ता हों तो वे निमित्त नहीं रहते किंतु उपादान हो गये; इसलिए यह भूल है।

कोई यह कहे कि सम्मेदशिखर और गिरनार का वातावरण ऐसा है कि धर्म की रुचि होती है तो ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। पुनश्च यह कहते हैं कि अरिहंत भगवान का नाम सुनकर कुत्तों आदि ने स्वर्ग प्राप्त किया है, अब अज्ञानी तो मानता है कि भगवान के नाम में तो बड़ा अतिशय है किंतु यह भ्रांति है (क्योंकि) अपने परिणामों में कषाय की मंदता हुए बिना मात्र नाम लेने से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती तो फिर नाम सुननेवालों को कहाँ से होगी। परिणाम के बिना फल नहीं है। नाम तो परवस्तु है, यदि उससे शुभ परिणाम हों तो सबके होना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं होता—जो दृष्टांत दिया गया है, उसमें उन श्वानादिक ने अपने परिणामों में कषाय की मंदता की है, और उसके फलस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति हुई है। नाम के कारण शुभभाव नहीं होते, कोई भगवान के समवसरण में गया अथवा मंदिर में गया किंतु वहाँ व्यापारादिक के अशुभ परिणाम करे तो क्या भगवान उन्हें बदल देंगे? अपने पुरुषार्थपूर्वक शुभभाव करे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है, यहाँ भगवान के नाम की मुख्यता करके उपचार से कथन किया है। (मोक्षमार्ग किरण, पृष्ठ १७०)

इस प्रसंग में तीर्थयात्रा के प्रति अपूर्व भक्ति करते हुए पूज्य स्वामीजी का निम्न प्रवचन आत्मधर्म, वर्ष १६, अंक ९, सीरियल नं० १८८ के पत्र ३२८ व ३२९ पठनीय हैं, जिससे ज्ञात होगा कि उन्हें तीर्थों के प्रति कितनी भक्ति है—

''अहा, सवेरे इस पावागढ़ क्षेत्र पर आये, तभी से लव-कुश की याद आ रही है—उनका जीवन मानो दृष्टि के समक्ष ही तैर रहा है—दोनों रामपुत्र विवाहित थे, फिर भी अंतर में भान था कि अरे! इस क्षणभंगुर संसार में कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी, कौन पुत्र और कौन

माता ? पुत्र को माता ने गोद में लिया, उसके पूर्व तो अनित्यता ने उसे अपनी गोद में ले लिया है। माता पुत्र को गोद में लेकर उसका मुँह देखे, उससे पूर्व ही अनित्यता उसे पकड़ लेती है। प्रतिक्षण उसकी आयु कम होने लगती है। ऐसा है यह अनित्य संसार। संयोगों की स्थिति ही ऐसी है, उसमें कहीं शरण नहीं है। माता की गोद भी अशरण है, वहाँ दूसरे की क्या बात! हम तो अब अपने नित्य चिदानंद स्वभाव की गोद में जायेंगे—वही हमारे लिये शरणभूत है तथा उसी में हमारा विश्वास है। जहाँ हमारा विश्वास है, वहीं हम जायेंगे। अनित्य संयोगों का विश्वास हमें नहीं है, इसलिये उनमें हम नहीं रहेंगे—संयोगों के ओर की वृत्ति छोड़कर हम असंयोगी स्वभाव में स्थिर होंगे।—हमें नि:शंक विश्वास है कि स्वभाव में ही हमारा सुख है और संयोग में सुख नहीं है। अनादि से हमारे साथ रहनेवाला ऐसा जो हमारा नित्य चिदानंद स्वभाव, उसी का विश्वास करके अब हम उसी के पास जायेंगे—संयोग से दूर और स्वभाव के निकट..। उस स्वभाव का मार्ग हमने देखा है.. उसी परिचित मार्ग पर चलकर हम मुक्ति सुंदरी का वरण करेंगे।

देखो, यह नि:शंकता! धर्मात्मा को अंतर में यह नि:शंक प्रतीति होती है कि—हमने मार्ग देखा है... और उसी मार्ग पर चल रहे हैं, यही मार्ग होगा या दूसरा ? आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ होगा या नहीं ? ऐसा कोई संदेह धर्मी को नहीं होता। हमने अपने स्वानुभव से मार्ग देखा और उसी परिचित मार्ग पर हमारा आत्मा चल रहा है—ऐसी नि:शंक दृढ़ता धर्मात्मा को होती है। ऐसे नि:शंक निर्णयपूर्वक दोनों राजकुमार दीक्षा लेकर चैतन्य में लीन हुए और केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धपुर में पहुँचे। **इस पावागढ़ क्षेत्र के जिस स्थान से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, उसी के ठीक ऊपर इस समय सिद्ध भगवान के रूप में विराज रहे हैं.... ऊपर अनंत सिद्धभगवंतों का समूह बैठा है। उन सिद्धों का स्मरण बहुमान करने में यह सिद्धक्षेत्र निमित्त है।**

लव-कुशकुमार, लाड देश के नरेन्द्र और पाँच करोड़ मुनिवर ने यही से मोक्ष प्राप्त किया और इस समय लोकाग्र में विराजमान हैं; **ऐसे सिद्ध भगवान को यथार्थरूप से जान ले तो संसार का विश्वास उड़ जाये और सिद्ध भगवान जैसे चिदानंदस्वभाव का विश्वास हो तथा सिद्धि का पंथ मिल जाये... इसका नाम तो तीर्थयात्रा! ऐसी तीर्थयात्रा करनेवाला जीव संसार से पार हुए बिना नहीं रहता।**'' सिद्धक्षेत्र पर अतीन्द्रिय भोजन का आमंत्रण करनेवाला पूज्य स्वामीजी का प्रवचन आत्मधर्म, वर्ष १६, अंक ८, सीरियल नं० १८८ के पत्र ३३१ पर—

देखो, इसमें सम्यग्दर्शन प्रकट करने तथा मोक्षमार्ग होने की बात है। लव-कुश के

आत्माओं ने किसप्रकार सिद्धपद प्राप्त किया, वह बात भी इसमें आ जाती है। यही मुक्ति का मार्ग, यही सच्चा मंगल तथा यही भव्य जीवों को शरणभूत है।

धर्मात्मा मुनिश्वरों को अपना एक चिदानंदस्वभाव ही प्यारा है, और जो वस्तु स्वयं को प्रिय लगती है, उसी के लिये जगत को आमंत्रित करते हैं कि हे जीवों! तुम भी ऐसे चिदानंदस्वरूपी हो, तुम भी उसी का आश्रय करके अतीन्द्रिय आनंद का भोजन करो।

जिसप्रकार तीर्थ में संघ को भोज देते हैं अथवा विवाहादि कार्यों में प्रीतिभोज दिया जाता है, उसीप्रकार यहाँ मोक्ष को साधते-साधते मोक्षमार्गी संत जगत को अतीन्द्रिय आनंद का भोज देते हैं—मोक्ष के मंडप में सारे जगत को आमंत्रित करते हैं कि हे जीवो! आओ.. आओ..! तुम भी हमारी भाँति आत्मोन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनंद का भोजन करो... उसका स्वाद लो।

आज यात्रा का प्रथम दिवस है... सोनगढ़ से निकलने के बाद पहली यात्रा इस पावागढ़ सिद्धक्षेत्र की हुई है—यहाँ लव-कुश मुनिवरों का स्मरण करके यह बतलाया है कि उन्होंने किसप्रकार मोक्ष प्राप्त किया। **उस मार्ग को समझकर अंतरोन्मुख होना, सो सिद्ध भगवंतों का भाव-नमस्कार है, वहीं सिद्धिधाम की निश्चययात्रा है।** और जहाँ से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया हो, ऐसे सिद्धक्षेत्रों की यात्रा-वंदना का भाव, सो द्रव्य-नमस्कार है, वह व्यवहार-यात्रा है। ऐसी निश्चय-व्यवहार की संधि साधक के भाव में होती है।

शास्त्राधार—

तीर्थक्षेत्रों में धर्म नहीं रखा है जो वहाँ जाकर ले आवे ऐसा स्व० श्री पंडित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा २ की भाषा टीका में निम्नप्रकार कहा है:—

धर्म का स्वरूप कहने के लिये श्री समंतभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा २ में कहा है कि—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान्, योधरत्युत्तमे सुखे॥२॥

अर्थ—मैं (समंतभद्राचार्य) ग्रंथकर्ता, इस ग्रंथ में उस धर्म का उपदेश करूँगा जो प्राणियों को पंच परिवर्तनरूप संसार के दुःखों से निकालकर स्वर्ग-मोक्ष के बाधारहित उत्तम सुखों में धारण करे। वह धर्म कैसा है; जिसमें वादी प्रतिवादी कर तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि कर बाधा नहीं आती, और जो कर्मबंधन को नष्ट करनेवाला है, उस धर्म को कहता हूँ।

भावार्थ—संसार में धर्म ऐसा नाम तो सभी लोग कहते हैं परंतु धर्म शबद का अर्थ तो ऐसा है जो नरक तिर्यंच आदि गति में परिभ्रमणरूप दुःखों से आत्मा को छुड़ाकर उत्तम आत्मिक, अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्षसुख में धारण करे, वह धर्म है। ऐसा धर्म मोल नहीं आता, जो धन देकर अथवा दान सम्मान आदि से प्राप्त करे तथा किसी का दिया हुआ नहीं आता, जो सेवा उपासना से प्रसन्न कर लिया जाये। **तथा मंदिर, पर्वत, जल, अग्नि, देवमूर्ति, तीर्थ आदि में नहीं रखा, जो वहाँ जाकर ले आवे।** तथा उपवास, व्रत, कायक्लेशादि तप में भी, शरीरादि कृश करने से भी नहीं मिलता। तथा देवाधिदेव के मंदिरों में उपकरण दान, मंडल पूजनादि द्वारा तथा गृह छोड़ वन श्मशान में बसने से तथा परमेश्वर के नाम जाप्यादिक द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। जो पर में आत्मबुद्धि छोड़ अपना ज्ञाता दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान अनुभव तथा ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण, सो धर्म है। तथा उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप अपना आत्मा का परिणमन तथा रत्नत्रयरूप तथा जीवों की दयारूप आत्मा की परिणति होय, तब आत्मा आप ही धर्मरूप होगा। परद्रव्य-क्षेत्र, कालादि तो निमित्तमात्र हैं। जिस काल यह आत्मा रागादिरूप परिणति छोड़ वीतरागरूप हुआ देखता है, तब मंदिर, प्रतिमा, तीर्थ, दान, तप, जप समस्त ही धर्मरूप है। अर अपना आत्मा उत्तम क्षमादिरूप वीतरागरूप, सम्यग्ज्ञानरूप नाहीं होय तो वहाँ कहीं भी धर्म नाहीं होय। शुभराग होय तो पुण्यबंध होता है। अर अशुभ राग द्वेष मोह होय, तहाँ पाप बंध होय है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ २)

श्री बुधजनजी ने १२ भावना में धर्म संबंध में कहा है कि—

'जिय! न्हान धोना, तीर्थ जाना धर्म नहीं तप तपा, वर धर्म निज आतम स्वभावी ताहि बिन सब निष्फला। बुद्धजन धरम निजधार लीना तिनहिं सब कीना भला।'

बृ० समाधिभाषा में भी कहा है कि—

भव भव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।
भव भव में मैं समवसरण में, देख्यो जिनगुण भीनो।
एती वस्तु मिली भवभव में सम्यक् गुण नहिं पायो॥४॥

नोध—अतः भगवान तीर्थक्षेत्र आदि तो निमित्तमात्र है, यह जीव भेदज्ञान द्वारा स्वसन्मुखतारूप निजशक्ति प्रगट करे अर्थात् उपादान कार्य करे तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उसको असद्भूत व्यवहारनय से उपचार कारण कहा जाता है। उपरोक्त कथन नं० ११ भी आगमानुकूल ही है।

कथन नं० १२

'जीओ और जीने दो, ऐसा अज्ञानी कहते हैं'

(मोक्षमार्गप्रकाशक किरण, पृष्ठ १८४)

विवेचन—इस संबंध में मोक्षमार्ग किरण पृष्ठ १८४, ८५ में पूरा प्रकरण अज्ञानी की शास्त्र संबंधी भूलों के अंतर्गत निम्नप्रकार आया है।

'जियो और जीने दो' ऐसा अज्ञानी कहते हैं (परंतु) किसी का जीवन किसी पर के आधीन नहीं है, शरीर या आयु से जीना, यह आत्मा का जीवन नहीं है। अपनी पर्याय में पुण्य-पाप के भाव स्वभाव की दृष्टिपूर्वक न होने देना और ज्ञाता दृष्टा रहना, उसका नाम जीवन है।' ××× कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ की क्रिया नहीं कर सकते। अपने ज्ञानानंदस्वभाव के भानपूर्वक राग न होने देना तथा रागरहित लीनता करना, यह अहिंसा और दया है, और ऐसे भानपूर्वक दूसरे प्राणियों को दुःख न देने का भाव, सो व्यवहार दया है, वह पुण्यास्रव है। आत्मा परजीव की पर्याय का तथा शरीर, वाणी की पर्याय का कर्ता नहीं है। यदि जड़ की क्रिया आत्मा से हो तो जड़ के द्रव्य और गुण ने क्या किया? जगत को अनेकांत तत्त्व की खबर नहीं है। आत्मा में जड़ नहीं है और जड़ में आत्मा नहीं है, इसप्रकार जिसे अनेकांत की खबर नहीं है और बाह्य में दया मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

शास्त्राधार नं० १—

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में जैनधर्म के अनुयायी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप अ० ७ में आस्रव तत्त्व की भूल में वर्णन है (पृष्ठ नं० ३३२ देहली सस्ती ग्रंथमाला) कि सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने कर्म के निमित्ततैं हो है। जहाँ जीव अन्य जीव के इन कार्यनिका कर्त्ता होय, सोई मिथ्याध्यवसाय बंध का कारण है। **तहां अन्य जीवनिको जिवावनेका या सुखी करने का अध्यवसाय होय, सो तो पुण्यबंध का कारण है, अर मारने का या दुखी करने का अध्यवसाय हो,** सो पापबंध का कारण है। ऐसे अहिंसावत सत्यादिक तो पुण्यबंधकौ कारण है और हिंसावत् असत्यादिक पापबंध को कारण है। ए सर्व मिथ्याध्यवसाय है, ते त्याज्य हैं। **तातैं हिंसादिवत् अहिंसादिकको भी बंध का कारण जानि हेय ही मानना। हिंसाविषैं मारने की बुद्धि होय, सो वाका आयु पूरा हुआ बिना मरै नाहीं। अपनी द्वेष परिणति करि आप ही पाप बांधै है।** अहिंसाविषै रक्षा करने की बुद्धि होय, सो वाका आयु अवशेष बिना जीवे नाही, अपनी प्रशस्त परिणतिकरि, आप ही पुण्य बांधै है। ऐसे दोऊ हेय हैं। जहाँ वीतराग होय दृष्टा ज्ञाता प्रवर्तै, तहां निर्बंध है, सो

उपादेय है, सो वीतराग ऐसी दशा न होय तावत् प्रशस्त रागरूप प्रवर्तै। परंतु श्रद्धान तो ऐसा राखौ- यह भी बंध का कारण है—हेय है।

आधार नं० २—सर्व जीवों का जीवन-मरण किसप्रकार होता है, इस विषय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार शास्त्र, गाथा २५४ से २५६ में निम्न प्रकार कहा है—

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते॥२५४॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं॥२५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं॥२५६॥

अर्थ—जो सभी जीव (संसारी जीव) कर्म के उदय से दु:खी-सुखी होते हैं, और तू उन्हें कर्म तो देता नहीं है, तो (हे भाई) तूने उन्हें दु:खी-सुखी कैसे किया। यदि सभी जीव कर्म के उदय से दु:खी-सुखी होते हैं, और वे तुझे कर्म तो नहीं देते, तो (हे भाई) उन्होंने तुझे दु:खी कैसे किया। यदि सभी जीव कर्म के उदय से दु:खी-सुखी होते हैं, और वे तुझे कर्म तो नहीं देते, तो (हे भाई) उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया। यही श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कलश नं० १६८ में कहा है कि इस जगत में जीवों के मरण, जीवित, दु:ख-सुख सब सदैव नियम से (निश्चित रूप से) अपने कर्मोदय से होता है किंतु यह मानना तो अज्ञान है कि—दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन दु:ख-सुख को करता है॥१६८॥

इसप्रकार शास्त्राधार से उक्त कथन के मर्म का कोई विरोध नहीं होता।

अत: कथन नं० १२ भी आगम सम्मत है।

कथन नं०—१३

मन वचन काय की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है।

(मोक्षशास्त्र, पृष्ठ ६५६ आवृत्ति तीसरी)

विवेचन—यहाँ पर यह वाक्य निम्नलिखित प्रकरण में निम्नप्रकार आया है:—

गुप्ति का स्वरूप

''कुछ लोग मन-वचन-काय की चेष्टा दूर करने, पाप का चिंतवन न करने, मौन धारण

करने तथा गमनादि न करने को गुप्ति मानते हैं, किंतु यह गुप्ति नहीं है, क्योंकि जीव के भक्ति आदि प्रशस्त रागादिक के अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं और वचन-काय की चेष्टा रोकने का भाव है, सो तो शुभप्रवृत्ति है। प्रवृत्ति में गुप्तिपना नहीं बनता। इसलिये **वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा नहीं होती, वहाँ यथार्थ गुप्ति है।** यथार्थ रीत्या गुप्ति का एक ही प्रकार है और वीतरागभावरूप है। निमित्त की अपेक्षा से गुप्ति के तीन भेद कहे हैं। **मन, वचन, काय तो परद्रव्य है, इसकी कोई क्रिया बंध या अबंधत्व का कारण नहीं है। वीतरागभाव होने पर जितने अंश में यह मन-वचन-काय की तरफ नहीं लगता, उतने अंश में निश्चय गुप्ति है और यही संवर का कारण है।''**

नोट—श्री पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में अध्याय ७, पृष्ठ ३३५ में सात तत्त्वों का अन्यथारूप बताया है, उसी का यह स्पष्टीकरण है।

मात्र मन-वचन-काय की क्रिया से बंध नहीं हो सकता, उसके लिये शास्त्राधार १ श्री समयसार गाथा २३७ से २४१ में इसप्रकार कहा है—

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेल का।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रजभरे स्थानक खड़ा॥२३७॥
अरु ताड़ कदली, बांस आदिक छिन्न भिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्यों का करे॥२३८॥
बहु भांति के करणादि से उपघात करते उसहिको।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों?॥२३९॥
यों जानना निश्चयपनें-चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं काय चेष्टा शेष है॥२४०॥
चेष्टा विविध में वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोग में रागादि करता, रजहिसे लेपाय वो॥२४१॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में स्पष्ट कह दिया है कि (१) भूमि है, वह रज के बंध का कारण नहीं, (२) व्यायामरूपी क्रिया रज के बन्ध का कारण नहीं, (३) अनेक प्रकार के करण भी रजबंध के कारण नहीं, (४) सचित्त-अचित्त वस्तु का घात भी रजबंध का कारण नहीं किंतु पुरुष में तैल का मर्दन ही उस रजबंध का कारण है।

इसीप्रकार यहाँ विचार करो कि उस पुरुष के बंध का कारण कौन है ? (१) स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है, ऐसा लोक बंध का कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी-जो कि लोक में रह रहे हैं, उनके भी बंध का प्रसंग आ जायेगा। **काय-वचन-मन का कर्म (अर्थात् काय-वचन-मन की क्रिया स्वरूप योग) भी बंध का कारण नहीं है, क्योंकि** यदि ऐसा हो तो यथाख्यात संयमियों के भी (काय-वचन-मन की क्रिया होने से) बंध का प्रसंग आयेगा। .....**इसलिए न्यायबल से फलित हुआ कि उपयोग में रागादि करण (अर्थात् उपयोग में रागादिक का करना) बंध का कारण है।**

नोट—बंध के कारण उपयोग में रागादिक की एकत्वबुद्धि ही है, काय-वचन-मन की क्रिया नहीं।

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३५ में भी कहा है कि:—

'बाह्य मन-वचन-काय की चेष्टा मेटैं, पापचिंतवन न करै, मौन धरै, गमनादि न करे, सो गुप्ति मानैं है, सो यहाँ तौ मन विषैं भक्ति-आदिरूप प्रशस्तरागादि नाना विकल्प हो है, वचन-काय की चेष्टा आप रोकि राखी है, तहां शुभ प्रवृत्ति है, अर प्रवृत्ति विषैं गुप्ति पनो बनैं नाहीं। **तातैं वीतरागभाव भए जहां मन-वचन-काय की चेष्टा न होय, सो ही सांची गुप्ति है।**'

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३३ में कहाा है कि:—

'बहुरि बाह्य चेष्टा होय ताकौ योग जानै, शक्तिभूत योगनिकों न जानै। ऐसे आश्रवनिका स्वरूप अन्यथा जानै, बहुरि रागद्वेष मोहरूप जे आश्रवभाव हैं, तिनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं। अर **बाह्यक्रिया या बाह्यनिमित्त मेटने का उपाय राखै, तो तिनके मेटै, आस्त्रव मिटता नाहीं।** द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा न करे है, हिंसा वा विषयनि विषै न प्रवर्ते है, क्रोधादि न करे है, मन-वचन काय को रोके है, तो भी वाके मिथ्यात्वादि चारों आस्त्रव पाइये है। बहुरि कपट करि भी ए कार्य न करे है। कपट करि करै, तो ग्रैवेयकपर्यंत कैसे पहुँचे। तातैं **जो अंतरंग अभिप्रायविषै मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव है, सो ही आस्त्रव है, ताकौ न पहिचानै,** तातैं वाकै आस्त्रवतत्त्व का भी सत्य श्रद्धान नाहीं।'

अत: उक्त कथन नं० १३ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० — १४

'आत्मा में कर्मों से विकार नहीं होता' (समयसार प्रवचन, भाग १, पृष्ठ ६९)

विवेचन—यह विषय समयसार गाथा २ में जीव को परसमय क्यों कहा, उसके उत्तर में निम्नप्रकार आया है।

जो जीव अपने गुण-पर्याय में स्थिर न रहकर परद्रव्य के संयोग में अर्थात् पुद्गलकर्म प्रदेश में स्थित हो रहा है, उसे अज्ञानी कहा है।

प्रश्न—क्या अल्पज्ञ जीव सूक्ष्म कर्म के प्रदेशों को देखता है।

उत्तर—नहीं, नहीं देखता; किंतु मोहकर्म की फलदायी शक्ति के उदय में युक्त हो तो ही वह परसमय स्थित कहलाता है। अपने में युक्त होने से अर्थात् स्थिर रहने से विकार उत्पन्न नहीं होता, विकार तो पर निमित्त में जुड़ने से होता है। स्वयं निमित्ताधीन होने पर अपनी अवस्था में विकारभाव दिखाई देता है। कर्म संयोगी-वियोगी पुद्गल की अवस्था है, उस ओर झुकनेवाला भाव विकारी जीवभाव है, यह पुद्गल कर्म प्रदेश में युक्त होने से उत्पन्न होता है। **जड़कर्म बलात् विकार नहीं करा सकते; किंतु स्वयं अपने को भूलकर पुद्गल प्रदेशों में स्थित हो रहा है। राग द्वारा स्वयं परावलम्बीभाव करता है। कर्मों ने जीव को नहीं बिगाड़ा किंतु जीव स्वयं अशुद्धता धारण करता है, तब कर्मों की उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है।** इसलिये उस विकार के द्वारा व्यवहार से परसमय में स्थित कहलाया।

किंतु जिसकी पर के ऊपर दृष्टि है, और पर से मैं जुदा हूँ, यह प्रतीति नहीं है—ऐसा जीव कर्म की उपस्थिति की जहाँ बात आई, वहाँ निमित्त के पीछे ही पड़ता है और बाहर से सुनकर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्रों में कर्मों को निमित्तमात्र कहा है, ये आत्मा से परवस्तु हैं। परवस्तु किसी का कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

शास्त्राधार १—

प्रवचनसार, अध्याय १, गाथा ४५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने निम्नप्रकार कहा है।

'औदयिका भावाः बंधकारणम्'

इसका अर्थ इतना ही है कि जो जीव मोहोदय में युक्त हो तो बंध होता है। **द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि जीव शुद्धात्मभावना के बल द्वारा भावमोहरूप परिणत न हो तो बंध-विकार नहीं होता। यदि जीव को कर्म के उदयमात्र से बंध होता हो तो संसारी को सर्वदा कर्मोदय की विद्यमानता होने से सर्वदा बंध ही हो, कभी मोक्ष होगा ही नहीं।**

आधार नं० २—

समयससार नाटक सर्वविशुद्धि द्वार में श्री पंडित बनारसीदासजी ने काव्य नं० ६१ से ६६ में निम्नप्रकार कहा है:—

कोऊ शिष्य कहे स्वामी रागद्वेष परिनाम,
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम्ह कौन है।
पुग्गल करमजोग किधौं इन्द्रिनीकौ भोग,
किधौ परिजन किधौ धन किधौं भौन है।
गुरु कहे छहो दर्व अपने अपने रूप
सबनिकौ सदा असहाई परिनौन है
कोउ दर्व काहू कौ न प्रेरक कदाचि तातैं
राग द्वेष मोह मृषा मदिर अचौन है॥६१॥

(अचौन-पीना)

मूर्ख प्रश्न—गुरु उत्तर—

कोउ मूरख यों कहे, राग द्वेष परिणाम।
पुग्गल की जोरावरी, बरते आतमराम॥६२॥
ज्यों ज्यों पुग्गल बल करे, धरि धरि कर्मज भेष।
राग द्वेष को परिणमन, त्यों त्यों होय विशेष॥६३॥
यह ही जो विपरीत पख गहै सरदहै कोइ।
सो नर राग विरोधसों कबहूं भिन्न न होइ॥६४॥
सुगुरु कहे जग में रहे, पुग्गल संग सदीव।
सहज शुद्ध परिणमनको, औसर लहे न जीव॥६५॥
तातैं चिद्भावनि विषै समरथ चेतन राव।
राग विरोध मिथ्यात्व में, सम्यक में शिवभाव॥६६॥

आधार ३—पंचास्तिकाय गाथा ६२ में तथा टीका में कहा है कि शुद्धता में या अशुद्धता में जीव और कर्मों को छहों कारक (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण) अपने-अपने में पूर्णतया स्वतंत्र तथा अन्य से निरपेक्ष होते हैं।

इसप्रकार कथन नं० १४ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० १६—

व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय का कारण नहीं है। (मोक्षशास्त्र, पृष्ठ १२३-१८०)

कथन नं० २१—

महाव्रतादि से संवर नहीं होता। (मोक्षशास्त्र, पृष्ठ ६१८)

नोट—उपरोक्त दोनों कथन लगभग एक ही अभिप्राय के द्योतक होने से तथा दोनों ही कथन संकेत किये हुए पत्रों पर हमको नहीं मिलने से संभव है आवृत्ति कई प्रकाशित हो जाने के कारण पृष्ठ संख्या में अंतर पड़ गया हो, इन कारणों से दोनों विषयों के उत्तररूप प्रमाणादि हम एक साथ ही निम्नप्रकार से दे रहे हैं।

आक्षेप नं० १६—

व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय का कारण नहीं है। (मोक्षशास्त्र, पृष्ठ १२३-१८०)

उत्तर—उपरोक्त पृष्ठों पर यह विषय नहीं है, किंतु तीसरी आवृत्ति पृष्ठ १२७ में निम्नप्रकार मिलता है—

प्रश्न—क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है ?

उत्तर—प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तब विकल्परूप व्यवहार सम्यग्दर्शन का अभाव होता है। **इसलिए यह (व्यवहार सम्यग्दर्शन) वास्तव में निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक नहीं है, तथापि उसे भूत नैगमनय से साधक कहा जाता है,** अर्थात् पहले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था, वह निश्चय सम्यग्दर्शन के प्रगट होने समय अभावरूप होता है। इसलिये जब उसका अभाव होता है, तब पूर्व की सविकल्प श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश, गाथा १४०, पृष्ठ १४३, प्रथमावृत्ति सं० टीका) इसप्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण नहीं किंतु उसका अभाव कारण है।

कथन नं० २१—

महाव्रतादि से संवर नहीं होता। (मोक्षशास्त्र, पृष्ठ ६१८)

विवेचन—मोक्षशास्त्र अध्याय ७ है, वह आस्रव अधिकार है, उसमें भी ऐसा शब्द नहीं है किंतु अणुव्रत-महाव्रत के संबंध में निम्नप्रकार कहा है—(मोक्षशास्त्र, अध्याय ७, आवृत्ति तीसरी, पृष्ठ ५४७) इन पाँच पापों से (बुद्धिपूर्वक) निवृत्ति होना, सो व्रत है। सूत्र १।

टीका

इस अध्याय में आस्रवतत्त्व का निरूपण किया है, छठे अध्याय के १२वें सूत्र में कहा था कि व्रती के प्रति जो अनुकम्पा है, सो सातावेदनीय के आस्रव का कारण है, किंतु वहाँ मूलसूत्र में व्रती की व्याख्या नहीं की गई थी, इसलिये यहाँ इस सूत्र में व्रत का लक्षण दिया गया है। इस अध्याय के १८ वें सूत्र में कहा है कि 'निःशल्यो व्रती' मिथ्यादर्शन आदि शल्य रहित ही जीव व्रती होता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि के कभी [सच्चे] व्रत होते ही नहीं, सम्यग्दृष्टि जीव के ही सत्यार्थ व्रत हो सकते हैं। भगवान ने मिथ्यादृष्टि के शुभरागरूप व्रत को बालव्रत कहा है। (समयसार गाथा १५२ तथा टीका) बाल का अर्थ अज्ञान है।

इस अध्याय में महाव्रत और अणुव्रत भी आस्रवरूप कहे हैं, इसलिये वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? आस्रव तो बंध का ही साधक है। अतः महाव्रत और अणुव्रत भी बंध के साधक हैं और वीतरागभावरूप जो चारित्र है, सो मोक्ष का साधक है, इससे महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना सम्भव नहीं। सर्व कषायरहित जो उदासीन भाव है, उसी का नाम चारित्र है। जो चारित्रमोह के उदय में युक्त होने से महामंद प्रशस्तराग होता है, वह चारित्र का मल है, उसे छूटता न जानकर उनका त्याग नहीं करता, सावद्ययोग का ही त्याग करता है। जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि अधिक दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है, तथा दूसरे हरितकाय का आहार करता है किंतु उसे धर्म नहीं मानता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करता है तथा कोई मंदकषायरूप महाव्रत अणुव्रतादि पालता है, परंतु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३३६-३३७ से)

दोनों विषयों पर शास्त्राधार निम्नप्रकार है

आधार नं० १—

परमात्मप्रकाश, अध्याय २, गाथा १४ (तीसरा संस्करण) की टीका इस सम्बन्ध में पठनीय है—

क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है? इस विषय में आचार्यदेव ने कहा है, "अथवा साधको व्यवहार मोक्षमार्गः साध्यो निश्चय मोक्षमार्गः अत्राह शिष्यः। निश्चय मोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्प मोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति।"

अर्थ—शिष्य का प्रश्न—क्या व्यवहार मोक्षमार्ग साधक तथा निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है, निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प (व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं है। अतः मोक्षमार्ग साधक कैसे हो सकता है ? समाधान—भूतनैगमनय से परम्परा कारण है, अर्थात् उसका अभाव कारण है।

आधार नं० २—

मोक्षमार्गप्रकाशक, पत्र ३३७

''उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करता है तथा कोई मंद कषायरूप महाव्रत अणुव्रतादि को पालते हैं परंतु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।''

नोट—सम्यग्दृष्टि मुनि भी महाव्रत को आस्रवतत्त्व अर्थात् बंध का कारण समझते हैं। इसप्रकार व्यवहार रत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय का कारण कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

आधार नं० ३—(२१) मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३७६ में कहा है—''बहुरि कोई ऐसैं मानैं कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग को कारण है। सो जैसैं अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है, तैसैं शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है—ऐसैं ही कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरे। अथवा द्रव्यलिंगी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट हो है, शुद्धोपयोग होता ही नाहीं। **तातैं परमार्थ तैं इनकै कारण कार्यपना है नाहीं।** जैसें रोगी कैं बहुत रोग था, पीछें स्तोक रोग भया, तो वह स्तोक रोग तो निरोग होने का कारण है नाहीं।

इतना है, स्तोक रोग रहैं, निरोग होने का उपाय करै तो होइ जाय। बहुरि जो स्तोक रोग ही कों भला जानि ताका राखने का यत्न करै तो निरोग कैसै होय! **तैसैं कषायी कै तीव्र कषाय रूप अशुभोपयोग था, पीछे मंदकषायरूप शुभोपयोग भया, तो वह शुभोपयोग तो निःकषाय शुद्धोपयोग होने को कारण है नाहीं। इतना है—शुभोपयोग भये शुद्धोपयोग का यत्न करै तो होय जाय। बहुरि जो शुभोपयोग ही कों भला जानि ताका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसैं होय। तातैं मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग कों कारण है नाहीं। सम्यग्दृष्टिकै शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्त होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं** शुभोपयोग कों शुद्धोपयोग का कारण भी कहिये है, ऐसा जानना।''

आधार नं० ४—श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ५९ में भी कहा है—

पारंपज्जाएण दु आसव किरिया ए णत्थि णिच्चाणं।
संसार गमण कारणमिदि, णिंदं आसवो जाण॥५९॥

अर्थ—कर्मों का आस्रव करनेवाली क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण नहीं हो सकता है। इसलिये संसार में भटकानेवाले आस्रव को निंद्य बुरा समझना चाहिये।

आधार नं० ५—प्रवचनसार, गाथा २४५ में ज्ञानी के शुभोपयोग को आस्रव तत्त्व कहा है—

श्रमणा, शुद्धोपयोग युक्ताः शुभोपयोग युक्ताश्च भवंति समये।
तेष्वपि शुद्धोपयोग युक्ता अनाश्रवाः साश्रवाः शेषाः॥२४५॥

अर्थ—शास्त्र में ऐसा कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण है, शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं, उनमें भी शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, शेष सास्रव हैं, (अर्थात् शुभोपयोगी आस्रव सहित हैं।)

प्रवचनसार गाथा ११ में मुनि का शुभोपयोग-सरागचारित्र विरोधी शक्तिसहित है, और वीतरागचारित्र विरोधशक्ति रहित है, अतः शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है। ऐसा आचार्य ने कहा है।

आधार ६—

पंचास्तिकाय गाथा १६७ में भी जयसेनाचार्य ने कहा है कि श्री अरहंतादि में भी राग छोड़ने योग्य है, पीछे गाथा १६८ में कहा है कि धर्मी जीव का राग भी (निश्चयनय से) सर्व अनर्थ परम्परा का कारण है। संस्कृत तात्पर्यवृत्ति टीका १६८ 'अथ सर्व अनर्थ परम्पराणां राग एव मूलं इत्युपदिशति। ततः स्थितं समस्त अनर्थ परम्पराणां रागादि विकल्पा एव लमिति॥१६८॥''

आधार ७—

मोक्षमार्गप्रकाशक पत्र ३७६-७७ में कहा है कि—

''बहुरि नीचली दशा विषै केई जीवनि कै शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइए है। तातैं **उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग कों मोक्षमार्ग कहा है। वस्तु विचार तैं शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है, जातैं बंधकों कारण सोई मोक्ष का घातक है, ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोग को हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना।** जहाँ शुद्धोपयोग न होय सकै, तहां अशुभोपयोग को छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्तना। **जातैं शुभोपयोगतैं अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है।**''

आधार नं० ८—

श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका में भी कहा है कि—निश्चय मोक्षमार्ग से मोक्ष, व्यवहार मोक्षमार्ग से बंध। (अध्याय १, गाथा ८१, पृष्ठ ३४)

दृष्टिर्निर्णीतिरात्मा ह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः
शुद्धं चारित्रमत्र स्थितिरिति युगपद्बन्ध विध्वंसकारि।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि परंस्याच्छुभो वा शुभो वा
बन्धः संसारमेवं श्रुतनिपुणधियः साधवस्तं बदन्ति॥८१॥

संस्कृत टीका—आत्माह्वयविशदमहसि निर्णीतिः दृष्टिः निर्णयं दर्शनं भवति। अत्र आत्मनि बोधः प्रबोध ज्ञानं भवति। अत्र आत्मनि स्थितिः शुद्धं चारित्रं भवति। अति त्रितयमपि। युगपत् बंध विध्वंसकरि कर्मबंधस्फेटकम्। त्रितयं बाह्यं रत्नत्रयं, व्यवहाररत्नत्रयं बाह्यार्थ सूचकं जानीहि। पुनः बाह्यं रत्नत्रयं परं वा शुभो व अशुभो वा बन्धः स्याद्भवेत्। श्रतनिपुणधियः मुनयः बाह्यार्थ संसारम् एवं वदन्ति कथयन्ति॥८१॥

हिन्दी अर्थ—आत्मा नामक निर्मल तेज के निर्णय करने अर्थात् अपने शुद्धात्मरूप में रुचि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। उसी आत्मस्वरूप के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इसी आत्मस्वरूप में लीन होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। ये तीनों एक साथ उत्पन्न होकर बंध का विनाश करते हैं। बाह्य रत्नत्रय केवल बाह्य पदार्थों (जीवाजीवादि) को ही विषय करता है और उसे शुभ अथवा अशुभ कर्म का बंध होता है, जो संसार परिभ्रमण का ही कारण है। इसप्रकार आगम के जानकार साधुजन निरूपण करते हैं।

नोट—बाह्य रत्नत्रय कहो अथवा व्यवहारमोक्षमार्ग कहो, दोनों एकार्थवाची हैं।

आधार नं० ९—

मोक्षमार्गप्रकाशक, देहली, पत्र-३३४

''यहाँ **प्रश्न**—जो मुनियों कै एक काल एक भाव हो है, तहाँ उनके बन्ध भी हो है अर संवर निर्जरा भी हो है, सो कैसें हैं ?

ताका **समाधान**—यह भाव मिश्ररूप है। किछू वीतराग भया है, किछू सराग रह्या है। जे अंश वीतराग भए, तिनकरि संवर है अर जे अंश सराग रहे, तिन करि बंध है। सो एक भावतैं तो दोय कार्य बनैं परंतु एक प्रशस्त राग ही तैं पुण्यास्त्रव भी मानना अर संवर निर्जरा भी मानना, सो भ्रम है।

मिश्रभाव विषैं भी यहु सरागता है, यहु विरागता है; ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि ही के होय। तातैं अवशेष सरागताकों हेय श्रद्धै है। मिथ्यादृष्टि के ऐसी पहिचान नाहीं, तातैं सरागभाव विषैं संवर का भ्रम करि प्रशस्त रागरूप कार्यनिकों उपादेय श्रद्धै है।''

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४० में कहा है कि 'स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोग का भी अंश रहै, तो जेती शुद्धता भई, ताकरि तो निर्जरा है अर जेता शुभभाव है, ताकरि बंध है। ऐसा मिश्रभाव युगपत् हो है, तहाँ बंध वा निर्जरा दोऊ हो हैं।'

इसप्रकार कथन नं० १६ से २१ का कथन आगमानुकूल सिद्ध होता है।

सोनगढ़ साहित्य को कोई अपनी विरोध दृष्टिवश अर्थ का अनर्थ करके ऊपर-नीचे का कथन तोड़-मरोड़ काँट-छाँटकर अपनी ओर से नया शब्द लगाकर गलत फहमी फैलाने की चेष्टा करते हैं तो करो.... सत्य है, वह सत्य ही रहेगा।

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

श्री कानजीस्वामी द्वारा व्यवहार धर्म पर

प्ररूपणा

यह प्रायः कहा जाता है कि श्री कानजीस्वामी केवल निश्चय का प्रतिपादन करते हैं, व्यवहार प्रवृत्ति मार्ग पर निषेध करते हैं, इससे धार्मिक प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जायेगी, ऐसी आशंका कुछ महानुभावों द्वारा की जाती है।

भली प्रकार विचार करने से उपरोक्त कथन एवं आशंका साधार प्रतीत नहीं होती। श्री कानजी स्वामी एवं उनके उपदेशों से प्रभावित लोग भी उसीप्रकार भक्ति, दान, पूजा, तीर्थ वंदना आदि करते हैं। जिसप्रकार अन्य भाई करते हैं। इसे श्री कानजीस्वामी के विरोधी भाई भी मानते हैं किंतु उनका केवल यही कहना है कि वे इस प्रवृत्ति मार्ग को अपनी वाणी में स्थान नहीं देते। किंतु यह भी सत्य नहीं है।

उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग की प्ररूपणा में अनेक कथन किए हैं और वे करते हैं, जिनका परिणाम है कि सौराष्ट्र में अनेक दिगम्बर मंदिर बन गये और बन रहे हैं किंतु खेद इसी बात का है, उनके इन कथनों की ओर विरोध करनेवाले भाईयों का ध्यान नहीं जाता या जानबूझकर उधर से आँख बन्द किये हुए हैं।

मुझे भी स्वामीजी के 'देश व्रतोद्योतनम्' पर हुए प्रवचनों के अनुवाद करने का अवसर प्राप्त हुआ था, उसमें से कुछ उद्धरण यहाँ पाठकों के मननार्थ प्रस्तुत करता हूँ। अब वे निर्णय करें कि इसप्रकार के उपदेश के प्रचार से दान, पूजा, भक्ति आदि की प्रवृत्ति का प्रसार होगा या अवरोध होगा।

(१) मुक्ति अर्थात् पूर्ण आनन्ददशा का कारण चारित्रदशा है, वह मुनिधर्म में है। उसे बिरला जीव ही पा सकता है। पृष्ठ १।

(२) जो मुनि धर्म का पालन नहीं कर सकें, उन्हें देशव्रत की वृद्धि करनी चाहिए। पृष्ठ १-२।

(३) पुण्य और पाप भाव संसार के वास्तविक कारण नहीं हैं, सम्यग्दृष्टि के भी पुण्य-पाप भाव होते हैं, लेकिन वे संसार के बीज नहीं हैं। पृष्ठ १२।

(४) आत्मभानपूर्वक मुनिपना अंगीकार न किया जा सके तो श्रावक बनना चाहिए। पृष्ठ १४।

(५) दुर्लभ मनुष्य भव में सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक के षटकर्म करने चाहिए। पृष्ठ १५।

(६) जिस घर में भगवान की स्तुति, भक्ति नहीं की जाती, वह घर कसाईखाने के समान है। पृष्ठ १८।

(७) जो श्रावक छः आवश्यक कर्म नहीं करता, उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। पृष्ठ १८।

(८) जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की भक्ति नहीं देखता तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, स्तुति नहीं करता, उस मनुष्य का जीवन निष्फल है तथा उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। पृष्ठ १८।

(९) जो शास्त्र नहीं पढ़ते, उनका अध्ययन नहीं करते, वे अन्ध हैं। पृष्ठ १९।

(१०) ज्ञान के आकांक्षी मनुष्यों को भक्तिपूर्वक निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा वंदना आदि करनी चाहिए। पृष्ठ १८।

(११) अगर जो अपनी अस्थिरता या नग्नता की लज्जा के कारण मुनि न हो सके तो उसे श्रावक के छह कर्म अवश्य करने चाहिए। किंतु मनुष्य जन्म और सम्यग्दर्शन व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। पृष्ठ २१।

(१२) जो लोभी दान में लक्ष्मी का उपयोग नहीं करता, वह कौए से भी हल्का है।पृष्ठ २६।

(१३) ज्ञानी का दान दृष्टिपूर्वक राग कम करने के लिये है। पृष्ठ २७।

(१४) ज्ञानी के दानादि शुभराग संसार से पार होने के लिये जहाज के समान है। पृष्ठ २८।

(१५) आत्मदान पूर्वक अशुभ दूर हुआ, इसलिए दान संसार से पार होने के लिये जहाज के समान है। पृष्ठ २९।

(१६) मोक्षदशा का कारण मुनियों का मोक्षमार्ग है, उसके स्थिर रहने में आहारदान परम्परा कारण है। पृष्ठ ३०।

(१७) अपने ज्ञानस्वभाव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो तो शरीर निमित्त कहलाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि का शरीर, चारित्र में निमित्त होता है। पृष्ठ ३०।

(१८) मुनि के वस्त्र-पात्र नहीं होते, ऐसे मुनि के शरीर टिकने में अन्न निमित्त है। अन्न खावे तो शरीर टिके, ऐसा नहीं है किंतु शरीर रहे तो अन्न निमित्त है। पृष्ठ ३०।

(१९) मुनिधर्म की प्रवृत्ति श्रावक से होती है। इसलिए आत्महित के अभिलाषी जीवों को मुनिधर्म की प्रवृत्ति का कारण गृहस्थधर्म धारण करना चाहिए। पृष्ठ ३३।

(२०) आत्मभान पूर्वक दान करनेवाला श्रावक केवलज्ञान प्राप्त करेगा। पृष्ठ ३७।

(२१) सम्यग्दृष्टि औषधिदान के फल से चक्रवर्ती, बलदेव आदि का पद प्राप्त कर मुक्त होते हैं। पृष्ठ ४१।

(२२) राग के अभावस्वरूप आत्मा की दृष्टि रखनेवाला लक्ष्मी का सदुपयोग दान में करता है। पृष्ठ ४७।

(२३) जिनेन्द्र भगवान की पूजा, गुरु सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान ये छह आवश्यक श्रावक को हमेशा करना चाहिए। अगर वह हमेशा नहीं करे तो वह श्रावक कहलाने योग्य नहीं है। पृष्ठ ४९।

(२४) जो जिनेन्द्रदेव के दर्शन तथा दानादि नहीं करता, वह पत्थर की नाव के समान डूब जाता है। पृष्ठ ५९।

(२५) जो गृहस्थ होते हुए भी जिनेन्द्र भगवान के दर्शन नहीं करता, वह श्रावक नहीं है। पृष्ठ ५९।

(२६) सर्वज्ञ के सनातन मार्ग में जो दृष्टिपूर्वक दर्शन, पूजा नहीं करता, वह श्रावक नहीं कहलाता। पृष्ठ ६०।

(२७) धर्मात्मा धर्म प्रवृत्ति का निमित्त है। अतः धर्मात्मा श्रावक का आदर करना चाहिए। पृष्ठ ६३।

(२८) जो जीव भक्तिपूर्वक जिनमंदिर आदि बनाते हैं, वे वंद्य हैं। पृष्ठ ६६।

(२९) जो आत्मभान पूर्वक जिनमंदिर का निर्माण कराते हैं, उनके पुण्य का वर्णन अगम्य है। पृष्ठ ६७।

(३०) जो अंतरंग की शांति का आश्रय लेकर राग कम करे, वही श्रावक है। पृष्ठ ६९।

(३१) श्रावक देव, गुरु, शास्त्र के प्रति अनुराग रखता है। इसे गृहस्थाश्रम का धर्म कहा है। पृष्ठ ७०।

(३२) श्रावक अणुव्रत का पालन कर देवगति पायेगा, वहाँ से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। पृष्ठ ७४।

(३३) भव्य जीवों को मोक्ष के निमित्त अणुव्रत और महाव्रत ग्रहण करने चाहिए।
पृष्ठ ७८।

(३४) आत्मदृष्टि से शुभराग अनर्थकारक है किंतु चरणानुयोग की पद्धति में कहा जाता है कि व्रत धारण करो। पृष्ठ ७८।

(३५) निश्चय से ग्रंथों में कहा गया है कि व्रत अनर्थ के कारण हैं किंतु साधक को अपनी भूमिका अनुसार शुभराग व्रतादिक अपनाने का राग होता ही है। मुक्तस्वभाव का आश्रय करने से शांति मिलती है किंतु अपूर्ण अवस्था में श्रावक को राग आये बिना नहीं रहता, इसलिये उसे अणुव्रत धारण करना चाहिये, ऐसा चरणानुयोग में कहा गया है। पृष्ठ ७९।

(३६) आत्मभानपूर्वक किए गए देशव्रत स्वर्ग तथा परम्परा से मोक्ष का कारण है।
पृष्ठ ८०।

निवेदक—
श्री बंशीधरजी शास्त्री, एम०ए०

निश्चय.... और.... व्यवहार

शुद्ध भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा राग-द्वेष-मोह से भिन्न है, उसे कर्म का संबंध भी नहीं है। परंतु व्यवहार के विषयरूप पर्याय में राग-द्वेष-मोह कर्म का संबंध आदि हैं; उस व्यवहार को यदि न माने तो मोक्षमार्ग को साधना और राग-द्वेष-मोह का अभाव करना नहीं रहता। बंधन को टालना और मोक्ष को साधना—वे दोनों भी व्यवहारनय का विषय है, इसलिये उन्हें जैसे हैं, वैसा जानना चाहिये।

बंध टालना और मोक्ष करना—यह व्यवहारनय का विषय है, ऐसा कहा है, उसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहारनय के आश्रय से वह बंध टलता है और मोक्ष होता है। भूतार्थ शुद्धस्वभाव

के अवलंबन से ही बंधन दूर होकर मोक्ष सधता है। पर्याय में बंध-मोक्ष के भेदरूप व्यवहार को माने ही नहीं तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधन का उद्यम भी क्यों करेगा? और निश्चय से शुद्धस्वभाव है, उसे यदि न माने तो किसके आश्रय से मोक्ष को साधेगा? इसलिए व्यवहारनय अभूतार्थ होने पर भी (आश्रय करने योग्य न होने पर भी) उसे जानना तो चाहिये कि पर्याय में बंधन है और वह कैसे दूर होगा? पर्याय में व्यवहार जैसा है, वैसा न जाने और 'मैं सिद्ध भगवान हूँ'—ऐसा मानकर शुष्करूप से प्रवर्तन करे तो वह निश्चयाभासी है; तथा पर्याय में व्यवहार है, उसी को परमार्थ स्वरूप मान ले या उसके आश्रय से कल्याण होना माने तो वह व्यवहाराभासी है। 'हे जीवों! स्वभाव का आश्रय करके मोक्षमार्ग को साधो और रागादि का क्षय करो।'—ऐसा मोक्ष का उपदेश भगवान ने दिया है। परन्तु यदि पर्याय में बंधन ही न माने तो उसके ऐसे मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव होगा, अर्थात् मोक्ष का ही अभाव होगा।

पर्याय में बंध-मोक्ष माने तो भूतार्थस्वभाव के आश्रय से मोक्ष का उद्यम करे। परंतु मुझे तो पर्याय में संसार है नहीं—ऐसा माने, उसे तो क्या उद्यम करना रहा? और यदि पर्याय में राग हो, उसी को मोक्ष का साधन मान ले तो वह भी राग से कब छूटेगा? और उसे वीतरागता का उद्यम कहाँ से होगा? राग स्वयं दुःख और बंधन का कारण है तो वह मोक्ष सुख का कारण कैसे होगा? निश्चय-व्यवहार के यथार्थ ज्ञानपूर्वक शुद्धस्वभाव के आश्रय से धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है। भूतार्थ के आश्रित जीव निश्चय से सुदृष्टि होता है और वह मुक्ति प्राप्त करता है।

पर्याय में जो राग-द्वेष-मोह हैं, वे व्यवहार से जीव के ही हैं। शुद्ध निश्चय से चैतन्यस्वभाव से भिन्न बतलाने के लिये भले ही उन्हें जड़ कहा, परंतु उनका अस्तित्व कहीं जड़ की पर्याय में नहीं है। जीव की पर्याय में उनका अस्तित्व है। यदि वे राग-द्वेष-मोह जीव की पर्याय में न हों और जड़ के ही हों तो उन रागादि से जीव को बंधन कैसे होगा? और यदि रागादि से भी बंधन न होता हो तो फिर वीतरागता का और मोक्षमार्ग का उपदेश देना अथवा उसका उद्यम करना कहाँ रहा? इसलिये पर्याय में जो रागादि हैं, वे व्यवहार से जीव के ही हैं और उनसे कर्म बंधन होता है—ऐसा जानना चाहिये, तथा भूतार्थस्वभाव के आश्रय द्वारा उनके नाश का उद्यम करना चाहिये।

[—समयसार, गाथा ४६ के प्रवचन से]

★

सुवर्णपुरी समाचार

सोनगढ़ तारीख ४-१-६६ परमोपकारी पूज्य कानजी स्वामी सुख शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे परमात्मप्रकाश तथा दोपहर को समयसार कलश टीका चलते हैं, दोनों समय अपूर्व प्रवचन चल रहे हैं, रात्रि चर्चा में विशेषरूप से ज्ञान निधि का लाभ मिल रहा है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का आचार्य पद आरोहण दिन पोष वदी ८ मनाया गया था।

—: नया प्रकाशन :—

अनुभव प्रकाश (श्री दीपचन्दजी साधर्मी कृत)
पृष्ठ संख्या ११०, मूल्य ०-३५ पैसा, पोस्टेजादि अलग।
नियमसारजी शास्त्र छप गये हैं, एक मास बाइंडिंग में लगेगा।

—: सूचना :—

पुस्तकों के ग्राहकों द्वारा बहुत बड़ी संख्या में माँग आ रही है। क्रमशः भेज रहे हैं। नये ऑर्डर आये हैं, उनके द्वारा मंगाये गये ग्रंथों में कई ग्रंथ तो बिक गये हैं। अतः नहीं भेज सकेंगे। सैकड़ों पत्र आ रहे हैं, सबको जवाब देने में असमर्थतावश यह निवेदन है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह यानी पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरसः ठीक रूप से सांगोपांग अनुवाद श्री हिम्मतलाल जे. शाह बी.एससी. द्वारा प्रथम बार ही हुआ है, जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र कृत संस्कृत टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, यह ग्रंथ दूसरी बार बड़े टाइप में सर्व प्रकार सुंदर संशोधित व संस्कृत टीका सहित छपा है, टीका के कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज, सुंदर छपाई और रेगजीन कपड़े की सुंदर जिल्द सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ३-५० है। पोस्टेजादि अलग पृष्ठ संख्या ३१५ (कमीशन किसी को नहीं मिलेगा।)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य सुगम और उत्तम साहित्य है।]

पता — श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

(श्री प्रवचनसार शास्त्र-दूसरी आवृत्ति)

यह शास्त्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पवित्र अध्यात्मसाररूप महान ज्ञान निधि है। जिसमें सातिशय निर्मल ज्ञान के धारक महामहर्षि श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञानदर्शन (ज्ञेय) और चारित्र अधिकार में स्वानुभव गर्भित युक्ति के बल द्वारा सुनिश्चित द्रव्य-गुण-पर्यायों का विज्ञान, सर्वज्ञ स्वभाव की यथार्थता, स्व-पर ज्ञेयों की स्वतंत्रता, विभाव (अशुद्धभाव) की विपरीतता बताकर अंत में ४७ नयों का वर्णन भी संस्कृत टीका द्वारा ऐसे सुंदर ढंग से किया है कि सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा सहित विनय से स्वाध्यायकर्ता अपने को धन्य माने बिना नहीं रह सकते।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समस्त जिनागम के साररूप रहस्य को खोलकर धर्म जिज्ञासुओं के प्रति परमोपकार किया है। उसी टीका का प्रामाणिक अनुवाद, बड़े टाइप में उत्तम छपाई, बढ़िया कागज, रेगजिन कपड़े वाली बढ़िया जिल्द, प्रत्येक गाथा लाल स्याही में छपी है। सभी जिज्ञासु यथार्थ लाभ लें ऐसी भावनावश मूल्य लागत से भी बहुत कम, मात्र ४) रुपया रखा गया है। पृष्ठ ४७०, पोस्टेज २-१०) पैसे, (किसी को कमीशन नहीं है)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(यह शास्त्र बंबई, दिल्ली, सहारनपुर, बड़ौत, उदयपुर, जयपुर, सागर, भोपाल, उज्जैन, इंदौर, विदिशा, गुना, अशोकनगर, ललितपुर, जबलपुर, खंडवा, सनावद, दाहोद, अहमदाबाद, आदि में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा भी प्राप्त हो सकेगा।)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	४-०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
आत्मप्रसिद्धि	४-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
मुक्ति का मार्ग	०-६०	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग २	नहीं है	अध्यात्मपाठ	३-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	भक्ति पाठ संग्रह	१-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में १८)	
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	ग्रन्थ का मात्र	६-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।